भगवान् ऋषभदेव के जीवन पर आधारित पौराणिक उपन्यास

युगद्रष्टा

मुनि प्रणम्यसागर

प्रकाशक
धर्मोदय साहित्य प्रकाशन
सागर (म. प्र.)

युगद्रष्टा

मुनि श्री प्रणम्यसागरजी महाराज

❑ **संस्करण**
प्रथम, नवम्बर, 2009

❑ **ISBN**
978-81-909449-2-2

❑ **आवृत्ति**
1100

❑ **लागत मूल्य**
40/-

❑ **प्राप्ति स्थान**
धर्मोदय साहित्य प्रकाशन
सागर (म. प्र.)
094249-51771
Email - dharmodayat@ gmail.com

❑ **मुद्रक**
विकास आफसेट, भोपाल

दो शब्द

वर्तमान में कथा साहित्य की उपयोगिता उत्तरोत्तर बढ़ रही है, बालकों से लेकर वृद्धों तक कथा साहित्य को प्रमुखता दी जाती है। ऐसे में उपन्यास का तो कहना ही क्या? इसमें व्यक्तिगत और सामूहिक जीवन को समग्रता से चित्रित किया जाता है।

इसी क्रम में प्रस्तुत उपन्यास युगुद्रष्टा को मुनि श्री प्रणम्यसागर जी महाराज ने भगवान् ऋषभदेव के जीवनचरित्र को सम्यक् रीति से प्रस्तुत किया है। इसमें भगवान् के पूर्व दश भवों का वर्णन संक्षिप्त एवं आधुनिक शैली में किया गया है। इसलिए यह उपन्यास भावपक्ष और कलापक्ष की दृष्टि से भी साहित्य जगत् की अमूल्य निधि है।

यह उपन्यास सभी को उपलब्ध हो सके, इस दृष्टि से इस पुस्तक का मूल्य कम ही रखा गया है। जिससे सामाजिक उत्सवों में, विद्यार्थियों को पुरस्कार में, विवाह, वर्षगांठ, जन्मदिन आदि अवसरों में भेंट करने की स्वस्थ परम्परा को प्रोत्साहन दिया जा सके।

ब्र. डॉ. भरत जैन

अन्तर्भाव

''कालचक्र गतिमान किसी का दास नहीं है।'' इस उक्ति के अनुसार काल का परिणमन प्रति समय चल रहा है। काल के इस परिणमन के साथ जीवों में, वय में, शक्ति में, बुद्धि में, वैभव में, परिवर्तन होता है। जब यह परिणमन वृद्धि के लिए होता है तो उसे उत्सर्पिणीकाल कहते हैं और जब यह परिणमन हानि के लिए होता है तो उसे अवसर्पिणी काल कहते हैं। अभी इसी अवसर्पिणीकाल के चक्र में प्रत्येक प्राणी श्वास ले रहा है। आज जो आयु, ऊँचाई, बुद्धि में ह्रास हमें दिखाई दे रहा है। आगे इससे भी अधिक होगा। यह भी स्वतः स्पष्ट होता है कि आज से वर्षों पहले यह सभी तथ्य और अधिक मात्रा में रहे होंगे। जैनधर्म में इसी कालखण्ड को छह भागों में विभाजित किया है। उनमें प्रथम, द्वितीय, तृतीय काल, उत्तम, मध्यम और जघन्य भूमि कहलाते हैं। जिसमें मनुष्य को कोई कर्म नहीं करना पड़ता है। परिवार के नाम पर मात्र पति, पत्नी ये दो ही प्राणी होते हैं। कल्पवृक्षों से इनकी दैनिक भोग-उपभोग की सामग्री उपलब्ध होती थी। तृतीयकाल के अन्त में जब भोगभूमि की व्यवस्था समाप्त हो रही थी और कर्मभूमि की रचना प्रारम्भ हो रही थी तब उस संधि काल में अन्तिम मनु-कुलकर श्री नाभिराज के घर उनकी पत्नी मरुदेवी से भगवान् ऋषभदेव का जन्म हुआ था।

गर्भ से ही मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान को धारण करने वाला वह बालक विलक्षण प्रतिभा का धनी था। कल्पवृक्षों के नष्ट हो जाने के बाद बिना बोये धान्य से लोगों की आजीविका होती थी परन्तु कालक्रम से जब वह धान्य भी नष्ट हो गया, तब लोग भूख-प्यास से अत्यन्त व्याकुल हो उठे और सभी प्रजाजन नाभिराज के पास पहुँचकर उनसे रक्षा की भीख माँगने लगे। प्रजाजनों की व्याकुल दशा को देखकर नाभिराज ने उन्हें ऋषभकुमार के समीप पहुँचा दिया। उन्होंने उसी समय अवधिज्ञान से विदेहक्षेत्र की व्यवस्था के अनुसार इस भरतक्षेत्र में भी वही व्यवस्था प्रारम्भ करने का निश्चय किया।

उन्होंने असि (सैनिक कार्य), मषि (लेखन कार्य), कृषि (खेती), विद्या (संगीत, नृत्य आदि), शिल्प (विविध वस्तुओं का निर्माण) और वाणिज्य (व्यापार) इन छह कार्यों का उपदेश दिया तथा इन्द्र के सहयोग से देश, नगर, ग्राम आदि की रचना करवायी। इसी कारण आप युगद्रष्टा कहलाए। इस व्यवस्था को आपने इस वसुन्धरा पर अवधिज्ञान से देखकर प्रचलित किया इसलिए आप युगद्रष्टा कहलाए। जब भगवान् माता मरुदेवी के गर्भ में आये थे, उसके छह मास पहले से अयोध्या नगर में हिरण्य-सुवर्ण तथा रत्नों से वर्षा होने लगी थी, इसलिए आपका नाम हिरण्य गर्भ पड़ा। षट्कर्मों का उपदेश देकर आपने प्रजा की रक्षा की इसलिए आप प्रजापति कहलाए। आप समस्त लोक के स्वामी हो इसलिए लोकेश कहलाए। आप चौदहवे कुलकर नाभिराज से उत्पन्न हुए इसलिए आप नाभेय कहलाए। इत्यादि अनेक नामों से आपकी ख्याति हिन्दू पुराणों और वेदों, श्रुति में उपलब्ध होती है। अनेक शिलालेखों और अनेक खोजों से प्राप्त सभ्यताओं में जो अवशेष मिले हैं, उससे आपकी प्राचीनता और सार्वभौमिकता को वर्तमान के सभी इतिहासकारों ने एक स्वर से स्वीकारा है। डॉ. सर. राधाकृष्णन कहते हैं -

जैन परम्परा ऋषभदेव से अपने धर्म की उत्पत्ति होने का कथन करती है जो बहुत-सी शताब्दियों पूर्व हुए हैं। इस बात के प्रमाण पाए जाते हैं कि ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव की पूजा होती थी। इसमें कोई संदेह नहीं है कि जैनधर्म वर्धमान और पार्श्वनाथ से भी पहले प्रचलित था। यजुर्वेद में ऋषभदेव, अजितनाथ और अरिष्टनेमि तीर्थङ्करों के नाम का निर्देश है। भागवत पुराण में भी इस बात का समर्थन है कि ऋषभदेव जैनधर्म के संस्थापक थे।

भगवान् ऋषभदेव के दस भवों का कथन पं. भूधरदासजी ने अपने 'जैन शतक' ग्रन्थ में किया है -

आदि जयवर्मा, दूजै महाबल भूप तीजै स्वर्ग ईशान ललिताङ्ग देव थयो है।
चौथे बज्रजंघ एवं पांचमे जुगत देह सम्यक ले दूजे देव लोक फिर गए हैं।
सातवै सुविधि एक आठवै अच्युत इन्द्र नवमैं नरेन्द्र वज्रनाभि भवि भयो है।

इसमै अहिमिन्द्र जानि ग्यारहै रिषभनाथ नाभिवंश भूधर के माथै नम लगे हैं।

भगवान् ऋषभदेव का सम्पूर्ण वृत्तान्त और उनके पूर्व भवों का वर्णन पुराण ग्रन्थ में आचार्य श्री जिनसेनस्वामी ने किया है। चूँकि यह पुराण सविस्तार बहुत विपुल सामग्री को लिए है। इस पुराण में ऋषभदेव के साथ अन्य अनेक महापुरुषों का वर्णन भी है। भगवान् ऋषभदेव कैसे बने? उनके जीवन के पूर्वभवों को इसी पुराण की आधारशिला बनाकर इस लघुकाय कृति का रूप बना है। मात्र ऋषभदेव का जीवन, कम समय में स्वयं को स्मृत रहे और अन्य भव्य प्राणी भी लाभ उठायें, इस भावना से यह प्रयास किया है। इस कार्य को करते हुए अनेक सैद्धान्तिक विषयों का खुलासा भी हुआ और उनका समायोजन भी किया है। दश भवों का वर्णन संक्षेप से इस कृति में उपलब्ध है।

प्रभु का यह संक्षिप्त कथानक सभी भव्यजीवों को उत्तम बोधि प्रदान करे, इन्हीं भावनाओं के साथ परम पूज्य आचार्य गुरुदेव श्री विद्यासागर जी महाराज को समर्पित यह कृति जिनके प्रसाद से इस आत्मा को सम्यक् बोधि की प्राप्ति हुई है।

मुनि प्रणम्यसागर

भूमिका

'युगद्रष्टा' वर्तमान युग के महान् जैनाचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के यशस्वी शिष्य श्रमण श्री प्रणम्यसागरजी महाराज की एक अनुपम कृति है।

यह कृति पन्द्रह शीर्षकों में विभाजित है। इसके नौ शीर्षकों के अन्तर्गत भगवान् ऋषभदेव के पूर्व भवों का वर्णन है, शेष शीर्षकों के अन्तर्गत आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव का जीवन चरित्र है!

जीवन और मरण निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है, जिसने भी जन्म लिया है उसकी मृत्यु निश्चित है! जन्म-मरण के इस परिभ्रमण को विकारहीन होकर एक मात्र मुक्त होकर ही तोड़ा जा सकता है! मुक्ति का मार्ग पुरुषार्थ मूलक है! भगवान् ऋषभदेव का जन्म महाराज नाभिराज और मरुदेवी के गर्भ से उस काल में हुआ जब कल्पवृक्षों के आशीष थकने लगे थे! समय कर्मभूमि की ओर यात्रा कर रहा था। उस काल में अयोध्या पति ऋषभदेव ने असि, मषि और कृषि का उपदेश देकर मनुष्य को जीवन जीने की कला सिखाई।

इस सृष्टि का न आदि है न अंत। आत्मा अजर, अमर, अविनाशी है मात्र पर्याय ही बदलती रहती है। ऋषभदेव भगवान् की पूर्व पर्याय का वर्णन इस कृति में उपलब्ध है। ऋषभदेव जैनधर्म के प्रथम तीर्थङ्कर हैं। जैनधर्म अत्यन्त प्राचीनधर्म है। ऋग्वेद की ऋचायें भगवान् ऋषभदेव का गुणगान करती हैं। श्रीमद् भागवत में ऋषभदेव भगवान् का सम्पूर्ण जीवन चरित्र उपलब्ध है। मेजर जे-सी फरलांग के अनुसार - ''जैनधर्म के आरम्भ को जान पाना असंभव है। इस तरह यह भारत का सबसे पुराना धर्म मालूम होता है।'' यशस्वी लेखक ने जैनधर्म के प्रथम तीर्थङ्कर पर युगद्रष्टा शीर्षक से उपन्यास लिखकर समाज पर उपकार किया है।

आज के भौतिकवादी युग में लोगों के पास इतना समय कहाँ; जो आदिपुराण जैसे बृहत् काय ग्रन्थों को पढ़े और जैनधर्म के रहस्यों को समझें। इस दृष्टि से प्रांजल भाषा में लिखा हुआ यह उपन्यास उन उद्देश्यों की पूर्ति कर

आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव का महान् जीवन चरित्र से परिचय कराता है।

युगद्रष्टा कृति में तिलोत्तमा-नीलाञ्जना नामक प्रसंग भी दिया है! जो कि ऋषभदेव के वैराग्य का कारण बना। एक दिन अयोध्या पति सम्राट ऋषभदेव राज्य सभा में नीलाञ्जना का नृत्य देख रहे थे। सहसा नीलाञ्जना के आयु के पुष्प से जीवन रूपी सुरभि विलोप हो गई। इन्द्र ने तत्काल कृत्रिम नीलाञ्जना का नृत्य प्रारम्भ करा दिया किन्तु सम्राट ऋषभदेव की प्रज्ञा भरी आँखों ने देख लिया कि नीलाञ्जना का आयु कर्म समाप्त हो चुका है। मृत्यु निश्चित है, किन्तु आयु कर्म कब समाप्त होगा यह अज्ञात है। उनके हृदय में वैराग्य के छिपे हुए अंकुर उगे और उन्होंने निश्चित किया कि मेरा जीवन भी व्यर्थ व्यतीत हो रहा है! इस घटना के पश्चात् स्वयंबोधित हुए और अभिनिष्क्रमण कर गए! और दीर्घ तपस्या के पश्चात् मुक्ति का वरण किया।

आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव का सम्पूर्ण जीवन-चरित्र, पूर्व भवों सहित 'युगद्रष्टा' उपन्यास में है। इस उपन्यास की भाषा प्रांजल, प्रभावकारी और सौम्य विषय वस्तु के सर्वथा अनुकूल है।

इस उपन्यास में भगवान् ऋषभदेव के यशस्वी पुत्र भरत और बाहुबली का संदर्भ न होना आश्चर्य उत्पन्न करता है। उपन्यास में यदि भरत और बाहुबली पात्र होते तो उपन्यास की रोचकता में श्रीवृद्धि होती। बहुत सम्भव है इस प्रसंग को इसलिए नहीं लिखा है कि इस विषय में मुनि श्री स्वतंत्र कृति लिखने की भावना रखते हों।

प्रस्तुत उपन्यास **युगद्रष्टा** मुनिश्री प्रणम्यसागरजी महाराज की प्रज्ञा का परिचय है। मानव जीवन एक निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया का साक्षी है। राग रहित होना ही वीतरागता का प्रमाण है और वही परमात्म तत्त्व है। वर्तमान युग में जैन साहित्य के आधुनिकीकरण की अत्यन्त आवश्यकता है, यह उपन्यास इस उद्देश्य की पूर्ति में सहायक सिद्ध होगा।

श्रमणश्री मेरे आराध्य हैं। विनम्र प्रणाम सहित यह भूमिका प्रस्तुत है।

पुराना पोस्ट आफिस गली
गुना (म.प्र.) 473001

मिश्रीलाल जैन
एडवोकेट

भगवान् ऋषभदेव : परिचय

पिता	–	कुलकर महाराज नाभिराज
माता	–	महारानी मरुदेवी
जन्म-स्थान	–	अयोध्या नगर
कहाँ से अवतीर्ण हुए	–	सर्वार्थसिद्धि
जन्म-राशि	–	धनु
राशि-स्वामी	–	बृहस्पति
गर्भकल्याणक तिथि	–	आषाढ़ कृष्ण द्वितीया
नक्षत्र/गर्भावास-काल	–	उत्तराषाढ़ नक्षत्र, 9 माह 7 दिन
जन्म-कल्याणक तिथि	–	चैत्र कृष्ण नवमी
रंग	–	पीत (तप्त स्वर्ण)
चिह्न	–	वृषभ
ऊँचाई	–	500 धनुष
वंश	–	इक्ष्वाकु
कौमार्य-काल	–	20 लाख पूर्व
राज्य-काल	–	63 लाख पूर्व
आयु	–	84 लाख पूर्व
सन्तान	–	100 पुत्र, 2 पुत्रियाँ
वैराग्य का कारण	–	नृत्य करती नीलाञ्जना की मृत्यु
दीक्षा-कल्याणक तिथि	–	चैत्र कृष्ण नवमी
समय/नक्षत्र	–	अपराह्न/उत्तराषाढ़ा
सहदीक्षित राजा	–	4000
कितने उपवास पूर्वक दीक्षा	–	षट् मास उपवास
दीक्षा-पालकी	–	सुदर्शन
दीक्षा वन/ स्थान	–	सिद्धार्थ वन, प्रयाग (इलाहाबाद)
प्रथम आहार-दाता एवं वस्तु	–	राजा श्रेयांश-इक्षु रस
प्रथम पारणा-स्थान	–	हस्तिनागपुर
रत्न-वृष्टि	–	12 करोड़ 50 लाख

छद्मस्थ काल	–	1000 वर्ष
केवलज्ञान कल्याणक तिथि	–	फाल्गुन कृष्ण एकादशी
समय/नक्षत्र	–	पूर्वाह्न, उत्तराषाढ़ा
स्थान	–	पुरिमतालपुर का शकटावन
वृक्ष	–	न्यग्रोध/वट
समवशरण का प्रमाण	–	12 योजन
कैवल्य काल	–	1000 वर्ष कम एक लाख पूर्व वर्ष
गणधर	–	84
मुख्य गणधर	–	वृषभसेन
प्रथम श्रोता	–	चक्रवर्ती भरत
शासन देव/यक्ष	–	गोमुख
शासन देवी/यक्षी	–	चक्रेश्वरी
शिष्य संख्या	–	84084
पूर्वधर	–	4750
शिक्षक मुनि	–	4150
अवधिज्ञानी मुनि	–	9000
केवली मुनि	–	20000
विक्रिया ऋद्धि सम्पन्न मुनि	–	20600
विपुलमति ज्ञानधारी मुनि	–	12705
वादी मुनि	–	12750
प्रमुख गणिनी आर्यिका	–	ब्राह्मी
आर्यिकाएँ	–	3 लाख 50 हजार
श्रावक-श्राविकाएँ	–	3लाख/5 लाख
योग-निरोध काल	–	चौदह दिन पहले
मोक्ष कल्याणक तिथि	–	माघ कृष्ण चतुर्दशी
समय/नक्षत्र	–	पूर्वाह्न, अभिजित् नक्षत्र
स्थान/आसन	–	अष्टापद/कैलासपर्वत/ पद्मासन
सहमुक्त मुनि	–	10000

विषय क्रम

1.	विराट लकीर विराग की	1
2.	संस्कार का फल	6
3.	ललित ललिताङ्ग	15
4.	अल्पदान – महाभोग	18
5.	द्रष्टा सम्यक् बना	25
6.	नियोग, जो भोगना है	33
7.	पहली-पहली बार	39
8.	सर्वोत्कृष्ट भोग का पुजारी	51
9.	विश्व कल्याण का संकल्प	55
10.	युगद्रष्टा	62
11.	अवतरण : काल जेता का	67
12.	लीलायें : प्रथम-पुरुष की	74
13.	महा निष्क्रमण : एकाकी यात्रा	85
14.	कैवल्य अनुभूति	108
15.	स्वयं-बुद्ध, स्वयं सिद्ध	120

1. विराट लकीर विराग की

आदिम युग के प्रजापति, आदि मानव, आदि तीर्थाधिपति, आदि स्रष्टा वृषभदेव राजा के राज्यमण्डप में प्रतिदिन की भाँति इन्द्र उपस्थित हुआ और प्रभु को भक्ति भाव से प्रणत हो, उनके चित्त को प्रसन्न करने की आज्ञा चाहता है। समुद्र से महा गम्भीर, तीर्थङ्कर की वाणी का मुखरित होना जब युवराज पद में भी दुर्लभ है, अरिहन्त पद हो तो बात ही क्या? पर इन्द्र आया है अपने अनन्य अन्य देवों के साथ, अनेक अप्सराओं को लिए, उसको नाराज करना प्रभु को मुमकिन न था। अरे! जब महापुरुष निर्बल, असहाय, साधारण प्रजा जन के मन को भी प्रसन्न रखते हैं तो फिर यह तो देवलोक का प्रधान इन्द्र है और हमारी प्रसन्नता में ही अपने को भाग्यवान समझता है, शायद यही सोचकर वृषभ राजा मुस्कुराए और इन्द्र ने इस इशारे को स्वीकृति समझा। पर लोग सोचते हैं कि ये उसी भव से मोक्ष जाने वाले हैं और किसी की बात को इतनी जल्दी मंजूरी नहीं देते जितनी कि इन्द्र की। इन्द्र का ही दिया भोजन, आभूषण, वस्त्र आदि स्वीकार करते हैं, इस विशाल भूमण्डल पर भी अनेक सुन्दर ललनाएँ हैं, उनके नृत्य को देखना पसन्द नहीं करते हैं, मात्र इन्द्र की लायी अप्सराओं का ही। अरे! नाभिराज तो कहने के लिए पिता हैं और मरुदेवी जननी मात्र होने से माता। पर इनका सारा ख्याल तो यह इन्द्र और इन्द्राणी रखते हैं, खैर; हमारे लिए तो सौभाग्य की बात है कि हमारे पालन करने वाले वो महामानव हैं कि जिनके जन्म के पहले से रत्न की बरसात होती थी, इन्द्र जन्माभिषेक के लिए मेरुपर्वत पर प्रभु को लेकर गया और प्रतिदिन यह आकाश इन्द्रों की बारात से ऐसा सुशोभित होता है कि लगता ही नहीं कि धरती यहाँ है और आकाश ऊपर है। इधर यह विचारों का द्वन्द और उधर इन्द्र का आदेश, एक साथ वातावरण बदल गया, लोगों को और कुछ सोचने के लिए अवकाश नहीं, सबका चित्त उस लय में लवलीन। अहो यह अलौकिक संगीत है एक साथ करोड़ों वाद्यों का एक लय में बजना प्रत्येक वाद्य की आवाज अलग-

अलग सुनना चाहें तो वो भी सुन सकते हैं। बस! हमें मन लगाने की जरूरत है, इन ध्वनियों का आरोहण-अवरोहण ऐसा कि मर्त्यलोक के मानवों द्वारा असम्भव है, यह राग का आलाप, पदों की थिरकन, कब, कौन-सा हाथ किस अंग पर पहुँच जाता है पता नहीं, कभी वह पैर कान के पास, तो कभी-कभी पैर आकाश में ऐसे फैलते मानो कि आकाश में बिजली चमकती, लहराती चली गयी हो, समझ से परे यह नृत्य जादूगर की तरह कला बाज है, ललाट का ऊपर उठना, भ्रू का कटाक्ष, नयनों की चंचलता, हेमकलशों का उघड़ना, कटि का घुमाव, नाभिस्थल का हिलोरें लेना, भुजाओं और पदों का अन्तर ही नहीं समझ पाना, ग्रीवा का घूमना, संगीत के अनुरूप भाव, रस और लय की एकाग्रता, यह सब कुछ अलौकिक है, जो लौकिक पुरुष के लिए सम्भव नहीं क्योंकि विक्रिया का यही तो वैभव है। जनमानस की नीली आँखों में वह नीलाञ्जना नर्तकी तो अञ्जन की तरह लगी रही, मानो उस सुरी को देखने के लिए अनिमेष पलक लगाये, ये मनुष्य नहीं सुर ही हैं। उस नृत्य ने भगवान् के मन को अनुरञ्जित कर दिया, भगवान् का मन तो बहुत विशुद्ध है पर राग की लालिमा में भी अवगाहित है। स्फटिक मणि के नीचे जपापुष्प रखा हो और मणि लाल न हो यह तो असम्भव है, उन सरागी प्रभु का यह राग ही तो जनमानस को उनसे अनुराग करने को मजबूर कर देता है और अचानक नर्तकी बदल गयी, सब लोग देख रहे थे, कोई भी न सोच पाया कि नर्तकी विलीन हो गयी इस देवलोक से, धन्य है यह सम्यग्दृष्टि, जो राग के प्रसंग में भी इतना सावधान और सूक्ष्मदृष्टि रखता है, लोगों का आनन्द अजस्र चल रहा है पर वह हल्की-सी रेखा की तरह भंग हुआ असुख भी सहन नहीं हुआ, क्या बदला है, कुछ भी तो नहीं, वही पृथ्वी, वही इन्द्र, वही अप्सरा का विलास, वही दरबार, वही नृत्य का क्रम, संगीत की वही लय, वही रस है, पर उस ज्ञानी के अन्तस् में वह छोटी लकीर, भेदविज्ञान की एक विराट लकीर खींच गयी। इन्द्र उस नृत्य को नहीं देख रहा है। वह प्रभु के मनोभाव उनके मुख कमल से जान रहा है, आज पहली बार जन्म के बाद उस मुख कमल को ऐसा देखा जो और लोगों के लिए देख पाना असम्भव। प्रभु का अन्तस् तो सदा एक-सा, पर आज प्रभु ने कुछ अलग ढंग से इन्द्र को देखा और प्रभु इन्द्र के भाव को समझ

गए, अरे! इतना प्रयास हमारे लिए करना पड़ा, मैंने आज फिर गलती की, चर्मनेत्र तो खुले के खुले ही रहे पर अन्तस् में अवधिज्ञान का नेत्र स्फुरित हो गया, मैं इन विषय भोगों में ही खो गया, मैं कौन हूँ ? मेरा क्या कार्य है? और मैं क्या कर रहा हूँ ? मुझ जैसे को भी समझाने के लिए यह प्रसंग रचा गया ठीक ही तो है यह इन्द्र का विवेक है, कभी भी महापुरुष को आमने-सामने, तानन-फानन वचनों से नहीं समझाया जाता। महान् आत्मा भी कभी-कभी गलती करते हैं पर उनको समझाने वाले भी महान् होते हैं। असंयम मार्गणा में भी संयमी-सा जीवन जीने वाले उन प्रभु को असंयम के साथ समझाना अविवेक होगा इसीलिए धैर्य धारण कर इन्द्र ने अपने विवेक का परिचय दिया, आज मैं दुनिया की नजरों में भले ही तीन ज्ञान का धारी, क्षायिक सम्यग्दृष्टि, दूरद्रष्टा, आदि नायक हूँ पर मैंने वह गलती अभी भी नहीं सुधारी जो मैंने दश भव पूर्व की थी।

हाँ! हाँ! दशभव पूर्व में! जम्बूद्वीप में मेरुपर्वत से पश्चिम दिशा की ओर विदेहक्षेत्र में एक गन्धिला नाम का देश है उसमें सिंहपुर नाम का नगर है, उस नगर में एक श्रीषेण नाम का राजा था उसकी स्त्री सुन्दरी थी, उसके दो पुत्र थे, उनमें ज्येष्ठ पुत्र जयवर्मा था और छोटा भाई श्रीवर्मा। यह बड़ापन और छोटापन तो जन्म की अपेक्षा से है वस्तुतः गुणों से व्यक्ति बड़ा और छोटा होता है। छोटा पुत्र सुभग था, जो स्वभाव से ही सबको प्यारा लगता था। उसकी क्रीड़ा भी मन को प्रसन्न करती थी, उसका उत्साह, प्रज्ञा, कमनीयता आदि गुण ऐसे थे जो बड़े भाई में भी न थे। जयवर्मा को लगता था कि माता-पिता श्रीवर्मा का ही ज्यादा ख्याल रखते हैं, उसे ही ज्यादा प्रोत्साहित करते हैं। परस्पर में कुछ अलग व्यवहार देखकर किसी को ठेस पहुँचती है, तो कोई खुश होता है। वस्तुतः कोई भी व्यक्ति अपने आप को निर्गुण नहीं समझता है प्रत्युत दूसरे के गुण भी उसे दोष दिखते हैं और ऐसी स्थिति में मात्सर्य भाव अवश्य पैदा होता है। छोटे भाई के प्रति अनुराग तो था ही ऊपर से पिता ने राज्यपाट भी श्रीवर्मा को दे दिया। जयवर्मा से रहा न गया, वह अपने दुर्भाग्य को कोसता हुआ घर से निकल गया। संयोग से उसे स्वयंप्रभ नाम के एक निर्ग्रन्थ गुरु मिले। गुरु को देखकर उसे कुछ सम्बल मिला। व्यक्ति को दुःख के समय जिस किसी की

सहानुभूति मिले वही उसका परम मित्र होता है। संसार की स्थिति से उसे कुछ वैराग्य तो हुआ पर वह वैराग्य नहीं वस्तुतः जीवन के प्रति निराशा थी। **निराशा और वैराग्य में बहुत अन्तर होता है।** दोनों में भेद कर पाना प्रत्येक व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं। मन दोनों में उदास हो जाता है, मुख भी कुछ फीका पड़ जाता है पर बाद में दोनों में क्या अन्तर है यह रहस्य खुलता है। निराशा जब बढ़ती जाती है तो व्यक्ति बेचैन हो जाता है, आलसी हो जाता है और परेशान-सा रहता है जब तक कि कोई आशा की किरण न फूटे पर वैराग्य ठीक इससे विपरीत है। वैराग्य जैसे-जैसे बढ़ता है व्यक्ति की सांसारिक कामनाएँ छूटती जाती हैं और नित प्रतिदिन आनन्दित होता हुआ अनाकुल चित्त हो जाता है। वैराग्य के साथ यदि ज्ञान का पुट भी हो तो मुक्ति उसके हाथ में है। उसने गुरु महाराज से दीक्षा ले ली और निर्ग्रन्थ श्रमण बन गया। सच कहता हूँ-**गुरुकुल में रहे बिना ब्रह्मचर्य व्रत दृढ़ नहीं हो सकता और शास्त्रज्ञान बिना भोगों की रुचि नहीं छूट सकती।** अभी जयवर्मा नव दीक्षित था; कि एक दिन आकाश में उसने एक विद्याधर को बड़े ठाट-बाट के साथ गमन करते देखा और उसका सोया हुआ भोग रूपी सर्प जाग गया, फल यह हुआ कि उस सर्प ने तात्कालिक वैराग्य को डस लिया, नशा चढ़ गया और भोगों की चित्त में तीव्राकांक्षा हुई, मुझे भी भगवन् ऐसा ही वैभव मिले, विलासता मिले। मन मूर्च्छित हो गया था, निदान बंध हो चुका था। काल की बलिहारी कि, बाहर से भी एक भयंकर सर्प बिल से बाहर निकला और उसके तन को डस लिया। प्राण पखेरू उड़ गए पर भोग का वह भाव साथ गया और फलित हुआ। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं जिस निर्ग्रन्थता को पाकर व्यक्ति तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती, इन्द्र जैसे पदों के लिए पुण्य उपार्जन करके मोक्ष को प्राप्त होता है, उससे उसने विद्याधर का पद पाया। **अरे! मणि को बेचकर धूल खरीदना कौन आश्चर्य की बात है, प्रत्युत मूढ़ता की बात है। कोई बात नहीं थोड़ी देर के लिए ही सही, कोई भी अच्छा संस्कार, अच्छा भाव ही देता है बशर्ते कि भवितव्यता अच्छी हो। गलती तो हर कोई करता है पर गलती करके सुधर जाने वाला महान् होता है।** भगवान् बनने वाली आत्मा भी धीरे-धीरे विकास पथ पर आरूढ़ है।

नीलाञ्जना का नृत्य देखते हुए आदिकुमार

2. संस्कार का फल

इसके बाद संसार का एक भव कम हुआ और प्राप्त हुए **नवम भव** में वह जैसा चाहता था वैसा ही बना, बल्कि कहीं उससे भी ज्यादा। बदला-सा लगता है पर बदला हुआ कुछ नहीं होता, पर्याय बदलती है, तरंग की तरह उत्पन्न हुई और विलीन हो गयी, फर्क इतना है कि कभी उस तरंग को विलीन होने में दो-चार सेकेण्ड लगते हैं तो कभी दो-चार वर्ष या कुछ अधिक पर, विलीनता अनिवार्य है। वही जमीं है, वही जम्बूद्वीप, वही पश्चिम दिशा, वही मेरू, वही गन्धिल देश जिसमें पूर्व में रहता था पर, अब वह विजयार्ध पर्वत पर पहुँचा जो उस देश के मध्य में था, वह पृथ्वी से पच्चीस योजन ऊँचा है और ऊँचे-ऊँचे शिखरों से ऐसा शोभित होता है, मानो स्वर्ग को ही प्राप्त करना चाहता हो। उस पर्वत के ऊपर दो श्रेणियाँ हैं, जो उत्तर और दक्षिण श्रेणी के नाम से प्रसिद्ध हैं। बस उन्हीं श्रेणियों में विद्याधरों के निवास बने हैं। चूँकि वह पर्वत विद्याधरों से आराध्य हैं, मुनिगण उस पर विचरण करते हैं, इसीलिए पूज्य हैं। उस पर्वत के शिखरों पर किन्नर और नागकुमार जाति के देव रहते हैं, उन शिखरों पर अनेक सिद्धायतन अर्थात् जिनमन्दिर बने हैं। झगझगाते सफेद चाँदी के समान शिखरों का दर्शन मन को विशुद्ध करने वाला है। उस पर्वत की उत्तरश्रेणी में अलका नाम की उत्तम नगरी है। उस नगरी में चारों दिशाओं में चार ऊँचे-ऊँचे दरवाजों सहित उन्नत प्राकार हैं, चारों ओर एक परिखा है, बड़े-बड़े पक्के मकान हैं, उन पर शिखर, उस पर पताकायें, हर घर में वापिकायें उनमें कलहंस पक्षियों का कलरव, फल-फूल सहित उद्यान, चारों ओर सम्पन्नता, शील सहित स्त्रियाँ और पौरुष सहित पुरुष, धान्य के खेत, खुशहाली का वातावरण है। ऐसी अलकापुरी में वह जयवर्मा, राजा अतिबल और रानी मनोहरा के महाबल नाम का पुत्र हुआ। पुत्र पुण्यवान था, जिस कारण से चारों तरफ सौहार्द का माहौल बना रहता था। उस महाबल का शरीर सुन्दरता में बस एक ही था और उसके गुण अनेक थे, जैसे कि सूर्य एक शरीर वाला होता है पर उसकी सहस्र किरणें चारों तरफ बिखर कर लोगों को आनन्दित करती हैं,

ठीक उसी तरह वह अपने गुणों से सबके दिल में बसा था। इन अनेक योग्यताओं को देखकर अतिबल ने अपना राज्य पद महाबल को दे तपश्चर्या के लिए गमन किया। विद्याधरों का जीवन तो भूमिगोचरियों जैसा ही होता है, पर विद्याएँ सिद्ध करना और उनकी प्राप्ति से जीवनयापन करने की मुख्यता से ही वे विद्याधर कहलाते हैं। वहाँ भी वंश, कुल, परम्परा और वर्ण व्यवस्था चलती है। राजा अतिबल ने दीक्षा के लिए हजारों राजाओं के साथ वन में गमन किया उनके साथ अनेक विद्याधरों ने वन में जाकर दीक्षा ली। पवित्र जिनलिङ्ग को धारण करके वे कर्म शत्रु को जीतते थे, जीतने का भाव नहीं गया था, गुप्ति, समिति की सेना से घिरे रहते, निर्दोष तपश्चरण करते क्योंकि उनको मालूम था कि बिना खून-पसीना एक किए जब सामान्य-सा राजा भी वश में नहीं आता तो फिर ये तो अनादि से मोह मल्ल के द्वारा पाले हुए अनेक शत्रु हैं, इनको जीतने में एक क्षण भी प्रमाद करना पूर्व की सारी जीत को हार में बदलना है इसलिए वे अतिबल-श्रमण रात्रि में शयन किए बिना धर्मध्यान, शुक्लध्यान रूपी मंत्रियों को लिए गुप्त मंत्रणा करते और सुबह से युद्ध छेड़ देते।

अतिबल को यह बल वंश परम्परा से मिला था, कर्म को अच्छी तरह करो और धर्म को भी, यह उन्होंने अपने पूर्वजों से सीखा था। अतिबल के पिता शतबल थे, जो प्रजा को पुत्र की तरह प्रेम करते थे। बहुत भाग्यशाली शतबल ने चिरकाल तक राज्य-भोग भोगा और बाद में अतिबल को राज्य देकर स्वयं भोगों से निष्पृह हो गए। उन्होंने सम्यग्दर्शन से पवित्र होकर श्रावक के व्रत ग्रहण किए, विशुद्ध परिणामों से देवायु का बंध किया और अनेक योग्य तपश्चरण करते हुए समाधिमरण पूर्वक शरीर छोड़ा और अब माहेन्द्र स्वर्ग में बड़ी-बड़ी ऋद्धियों के धारक देव हुए। अतिबल राजा के दादा का नाम सहस्रबल था। अनेक विद्याधर राजाओं से नमस्कृत उनके चरण कमल जब राज्य भार छोड़कर वन की ओर चले तो उत्कृष्ट जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर वे चरण सिद्धलोक में विराजमान हो, हमेशा के लिए भव्य जीवों के ध्यान के योग्य हो गए। ऐसी कुल परम्परा में ही आज महाबल राजा हुए हैं। यथानाम तथाकाम की उक्ति सार्थक करते हुए शत्रुओं के बल का संहार करना, अन्याय को मिटाना और पूर्वजों द्वारा प्राप्त हुए इस राज्य को निष्कण्टक रखने की

शपथ ली थी, अपने दैव और पुरुषार्थ से यह सब उन्होंने कर दिखाया। आश्चर्य है कि इस प्रचण्ड वीरता के साथ भी क्षमा, कोमलता, निर्लोभिता,परोपकार भाव, निर्मदता आदि भी उनके अन्तस् में उतने ही समृद्ध हो रहे थे। प्रजा में कोई भय नहीं, कोई आगामी उत्पात की आशंका नहीं, अन्याय शब्द तो सुनने में ही नहीं आता, प्रत्येक व्यक्ति तीन पुरुषार्थों का बराबर पालन करता। यौवन के शिखर पर पहुँचते-पहुँचते वह लोकप्रियता के शिखर पर अनायास चढ़ गया था। प्रत्येक अंग से टपकता सौन्दर्य ऐसा था मानो कामदेव ने अपना निवास छोड़कर उनके शरीर को ही अपना निवास स्थान बना लिया हो। नखों की किरणों से दैदीप्यमान पद कमलों में अंगुलिदल की शोभा-सी कठोर पिंडरियाँ, केले के स्तम्भ-सी जंघायें, करधनी से घिरा नितम्ब, गहरी नाभि, वृक्षशाखा सी दो भुजायें, कसा हुआ वक्षःस्थल, केयूर से घिसे बाजू स्कन्ध, कमल-सा मुख, ललित कपोल, दो नेत्रों के बीच पर्वत-सी ऊँची नाक, कुण्डलों से शोभित कर्ण, लम्बी टेढ़ी भौएँ और घुंघराले काले कुन्तल, वन में भ्रमर को भी तिरस्कृत कर रहे थे। अनेक प्रकार उत्सवों और महोत्सवों में रमण करता हुआ, अपने स्त्री, पुत्रों के साथ वह अतिशय सुखी था। अनेक उत्सवों में गृहोचित एक योग्य उत्सव आता है, जिसे आचार्यों ने वर्ष-वृद्धि दिवस का नाम दिया, अर्थात् वह विशेष दिन जब किसी व्यक्ति का जन्म होता है, जिसे आज-कल वर्षगाँठ, वर्थडे आदि कहा जाता है। अरे! उन विजयार्ध की श्रेणी में भी यह उत्सव मनाये जाते हैं, कोई आश्चर्य नहीं, जैसी यहाँ कर्मभूमि वैसी ही वहाँ, अन्तर सिर्फ काल परिवर्तन का है। महोत्सवों को मनाना गृहोचित कर्म है, इसमें सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि का विवाद करना भी अनुचित है। बाहर से सम्यग्दर्शन के लक्षण, जो अरिहन्त, गुरु, शास्त्र की श्रद्धा है, सो तो कुलक्रम से चले आ रहे हैं और वह षट्कर्मों का पालन करता हुआ, अनेक गीतवादित्र, रंगावली, गृह सजावट से युक्त अन्दर राज्य के सभामण्डप में उचित बधाइयों को प्राप्त करता हुआ नृत्य रस का आनन्द लेता हुआ, पुण्य के सागर में डूबा हुआ है। मंत्रिमण्डल भी साथ में राजा की तरह हर्षित है। अपने स्वामिन् की प्रसन्नता से सभी मंत्रीगण भी प्रसन्न थे, परन्तु प्रसन्नता का सही कारण अपने प्रभु को बताना चाहिए, यह समय है ताकि हमारे प्रभु का आगामी भविष्य भी उज्ज्वल हो, इसी

अभिप्राय से सम्यग्दर्शन से विशुद्ध हृदय वाले स्वयंबुद्ध नाम के मंत्री ने कहा- स्वामिन्! विद्याधरों की यह उत्कृष्ट लक्ष्मी आपके पुराकृत पुण्य का फल है। **पुण्य धर्म से होता है और धर्म पञ्चपापों का त्याग, इन्द्रिय संयम तथा समीचीन ज्ञान से होता है,** इसलिए हे महाभाग! यदि आप अपनी चंचल लक्ष्मी को स्थिर रखना चाहते हैं और इस पुण्य से अरिहंत-सी पुण्य विभूतियाँ पाना चाहते हैं तो अर्हंत प्रणीत धर्म में अपना उपयोग लगायें। इतना सुनते ही चार्वाक मत को मानने वाला महामति मंत्र अपने अभिप्राय को पुष्ट करने लगा और कहा राजन्! यह मंत्री तो अधर्म के नशे में चूर है, कहाँ पुण्य कहाँ पाप? कहाँ स्वर्ग, कहाँ नरक? प्रत्यक्ष दिखने वाले पञ्चभूतों से बना यह शरीर है जैसे महुआ, गुड़, जल आदि पदार्थों को मिलाने से मादक शक्ति उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार शरीर बनने पर उसमें चेतना भी उत्पन्न हो जाती है। शरीर की शक्ति क्षीण होती है तो आत्मा भी शक्ति रहित हो जाती है। यों तो हम देखते हैं कि प्रत्येक पदार्थ की कार्य करने की एक निश्चित सीमा होती है, उसके बाद वह पदार्थ काल के गाल में समा जाता है, इसलिए आप प्रसन्न रहिए। खाना, पीना, मौज उड़ाना कुछ लोगों को अच्छा नहीं लगता इसलिए धार्मिकता का नकाब ओढ़कर लोग अपने अहं की पुष्टि करते हैं, इसलिए जो मिला है, उसका ही जी भर भोग करो। प्राप्त हुए भोगों से मिलने वाले सुख को छोड़कर किसी और अलौकिक सुख की कल्पना तो ऐसी है कि ''आधी छोड़ पूरी को जावे, पूरी मिले न आधी पावें'' तभी तीसरा मंत्री संभिन्नमति कुछ मन्द हास्य लिए हुए जीव की परिकल्पना को थोथा कहने लगा और विज्ञानवाद की पुष्टि करने लगा। कहते हैं-''मुण्डा-मुण्डा मतिर्भिन्ना'' और चौथा शतमति मंत्री भी शून्यवाद के विचार रखने लगा। विपरीत अभिप्राय रखने वाले तीनों मंत्री अपने-अपने मत की पुष्टि कर रहे हों, ऐसा ही नहीं, किन्तु स्वयंबुद्ध मंत्री के कथन को भी झूठा करने का प्रयास बरकरार था। कहीं ऐसा न हो राजा इसकी बात मान ले और हम लोग मुँह की खा-के रह जायें। वस्तुतः यह सदियों से होता आया है, अपनी प्रज्ञा से स्वयंबुद्ध मंत्री ने तीनों मतों का जोरदार खण्डन किया और अपनी वाग्मिता से सभासदों का मन प्रसन्न कर जिनेन्द्र प्रणीत धर्म का प्रतिपादन किया। राजा ने बुद्धिमान स्वयंबुद्ध के वचनों को स्वीकार किया और उचित

महाबल राजा के समक्ष मंत्रिगण अपने विचार रखते हुए

सत्कार कर सम्मानित किया। सत्य है जब अहं को ठेस पहुँचती है तो क्रोध आता है, जिससे मात्सर्य बढ़ता है और वही नरक पतन का कारण हो जाता है। बात मिथ्यादृष्टि को सम्यक् बनाने की नहीं, बात तो अहं को गलाने की है, देखा जाय तो राजा को अभी सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं है, परन्तु राजा होने पर भी मार्दवता से ओतप्रोत है। सत्य को स्वीकार करने का बल है। अन्य मंत्रियों का वह अहं उन्हें नरक ले गया। अपने पालक के कल्याण की चिन्ता रखने वाला स्वयंबुद्ध मंत्री जब मेरुपर्वत पर अकृत्रिम चैत्यालयों की वन्दना में तत्पर था, तभी उसने आकाशगामी दो मुनिराज देखे, जिनके शुभ नाम थे, आदित्यगति और अरिंजय। मंत्री उनके सम्मुख गया, प्रणाम किया, वन्दना, पूजा की और कहा अवधिज्ञान रूपी नेत्र से सुशोभित तप प्राप्त महाऋद्धियों के स्वामी आप हमें यह बतायें कि विद्याधरों का अधिपति राजा महाबल भव्य है या अभव्य? इसे कहते हैं दूरदर्शिता, यह नहीं पूछा कि राजा सम्यग्दृष्टि है या मिथ्यादृष्टि? ठीक ही तो है, **यह दृष्टि तो कई बार समीचीन हो जाती है, विपरीत हो जाती हैं, पर भव्यता से उसकी मुक्ति की नियामकता प्राप्त होती है।** हमें अपने प्रभु को धर्मपथ पर बढ़ाना है, स्वयं को सम्यग्दृष्टि कहकर अपने अहं को नहीं बढ़ाना यही तो सम्यग्दृष्टि की धर्मरुचि है। ज्येष्ठ मुनिराज ने कहा– हे भव्य! तुम्हारा स्वामी भव्य है। उसे तुम्हारे वचनों पर विश्वास है, आगामी दशवे भव में वह तीर्थङ्कर होगा। अभी तुम्हारे राजा ने दो स्वप्न देखे हैं, उनमें से एक का फल है आगामी भव में प्राप्त होने वाली विभूति और दूसरे का फल है आयु की अल्पता। अब राजा की आयु मात्र एक माह शेष रह गयी है। इसलिए हे भद्र! इसके कल्याण के लिए शीघ्र यत्न करो प्रमादी मत बनो।

भला भाग्य होने पर जब उचित पुरुषार्थ किया जाता है तो कार्य की सिद्धि अवश्य होती है, काललब्धि के आश्रित रहकर मूढ़ मत बनो।

इतना कहकर दोनों मुनिराज क्षण भर में गगन में अन्तर्हित हो गए। मुनिराज के वचनों से मंत्री का मन बहुत प्रसन्न हुआ और व्याकुल भी। व्याकुलता को लिए हुए वह शीघ्र की महाबल के पास पहुँचा। राजा स्वप्न के फल जानने की प्रतीक्षा में था, मंत्री ने स्वप्न फल सहित ऋषिवर के वचन राजा को सुना दिए। आश्चर्य। अपनी तीर्थङ्करता को निश्चित जानकर भी महाबल ने

संन्यास धारण कर राजा महाबल आत्मचिन्तन करते हुए

अपना धैर्य नहीं खोया, विवेक नहीं लुटाया और सम्यक् पुरुषार्थ करने को उद्यत हुआ। अपना वैभव, राज्य भार सब पुत्र को सौंपकर समस्त लोगों से पूछकर सिद्धकूट चैत्यालय पहुँचा। वहाँ सिद्ध प्रतिमाओं की पूजा कर निर्भय हो संन्यास धारण किया। बुद्धिमान राजा ने जीवन पर्यन्त के लिए गुरु की साक्षी पूर्वक आहार, जल तथा शरीर से ममत्व छोड़ दिया। इसी व्रत के साथ वह चार आराधनाओं की परम विशुद्धि को धारण कर रहा था। प्रायोपगमन संन्यास धारण करता हुआ बाईस दिन तक सल्लेखना धारण की। समस्त परिग्रह से रहित होते हुए वह मुनि के समान तपस्वी जान पड़ता था। मुनि के समान इसलिए कहा क्योंकि मुनि के योग्य केशलोंच आदि कर दुर्धर चर्या का पालन नहीं किया।

अन्त समय में मात्र नग्न होकर अपने आपको मुनि मानना और मनवाने का हठाग्रह आर्ष विरुद्ध आचरण है। मंत्री ने अपने स्वामी की अंत समय तक सेवा कर अपने मंत्रीपद के कार्य को बखूबी निभाया। तदनन्तर वह महाबल भव का मूल कारण यह शरीर उसमें मोह रहित होता हुआ प्राण त्याग करके ऐशान स्वर्ग को प्राप्त हुआ। वहाँ वह श्रीप्रभ नाम के अतिशय मनोहर विमान में उपपाद शय्या पर बड़ी ऋद्धि का धारक ललिताङ्ग देव हुआ। महाबल ने बहुत ही उत्कृष्ट तप किया पर मन में भोगों की आकांक्षा का संस्कार पूर्णतः नहीं गया। **जब तक यह भोगों की वासना बनी रहती है, तब तक निर्मल सम्यग्दर्शन का दर्शन कहाँ ?** बाहर से कोई कुछ भी कहे, कितना ही अपने को सम्यग्दृष्टि माने पर मन जानता है कि भोगों की चाह अभी कितनी विद्यमान है, पूर्णतः संसार में मेरा कण मात्र भी नहीं, इस त्रिजगत् में मैं शून्य हूँ।

कर्तृत्व, भोक्तृत्व, स्वामित्व मेरा अहंकार है, यह सब भावना भाते हुए भी जब मन भोगों के आडम्बर में भी दिगम्बर रहे तो तन का दिगम्बर होना सार्थक समझो अन्यथा देवियों का भोग ही हाथ लगता है, मुक्ति का नहीं। यह अनादि की इच्छाएँ एक ही भव में दफन कहाँ हो सकती हैं? गलती बहुत कुछ सुधरी, जयवर्मा ने मुनि बनकर जो भोगों की इच्छा की, वैसी महाबल ने व्रतों के बिना मात्र सल्लेखना धारण करके नहीं की, वह तो मन के किसी कोने में छिपा संस्कार था, जिसने एक भव और बढ़ा दिया

वरना अणुव्रतों को धारण कर यदि गृहस्थधर्म का अनुपालन कर सल्लेखना मरण करता तो निश्चित ही आठवें भव में मुक्ति का पात्र बनता। कोई बात नहीं भव्य है मुक्ति तो मिलेगी, पुरुषार्थ जो उन्नति की राह पर हो रहा है, किन्तु आठवें भव में न मिलकर नवमें भव में मिलेगी। **भोगों को न छोड़ना पड़े इसलिए, जो लोग मात्र ज्ञान मार्ग का सहारा लेकर अपने को अध्यात्म के शिखर पर बैठा लेते हैं, वे अन्त समय में धड़ाम से गिरते हैं और भव-भव के लिए मनुष्यत्व की योग्यता से भी हाथ धो बैठते हैं।** उस शुष्क अध्यात्म की अपेक्षा यह सक्रिय आचरण अच्छा है, जो कम से कम अपने पुरुषार्थ से अपने संसार की सीमा तो बना लेता है।

❑❑❑

3. ललित ललिताङ्ग

और एक नव संसार मिला, संसार में नवमा संसार।

ललित मनोहर अंगों वाला एक पुण्यमूर्ति-सा दैदीप्यमान ललिताङ्ग देव अपने शरीर की प्रभा से सभी देव-देवियों के रूप को तिरस्कृत करता हुआ उपपाद शय्या से युवा हंस के समान उठ खड़ा हुआ और आश्चर्य में पड़ गया कि मैं कौन हूँ ? कहाँ से आया हूँ ? यह मनोहर स्थान कौन-सा है, क्षण भर में अवधिज्ञान प्रकट हो गया सब वृत्तान्त दर्पण की भाँति ज्ञात हो गया। अहो! यह हमारे तप का फल है, कहीं मेरी जय जयकार हो रही है तो कहीं अप्सरायें अपने हास्य-विलास से मुझे बुला रही हैं, कोई नृत्यगान से मेरा मन लुभा रही हैं तो कोई अनेक मंगल सामग्री ला रही हैं। आइये देव! आइये पहले मंगल स्नान कीजिए फिर अपनी देव सेना को देखिए पश्चात् नाट्यशाला चलिए, अकृत्रिम चैत्यालयों की वन्दना कीजिए, पूजन दर्शन कीजिए और जहाँ तहाँ मनोहर क्रीड़ा स्थलों पर इन देवियों के साथ चिरकाल तक रमण कीजिए। **त्याग-तपस्या का फल मिलता है पर पहले कठिन परीक्षा से गुजरना पड़ता है, बाद में फल में अनासक्त होना पड़ता है, नहीं तो, जो मिला है उससे आगे नहीं बढ़ सकता।**

यही तो रोना है कि थोड़ा-सा धर्म करके मरा और पुण्य का फल इतना मिला कि जो राग का संस्कार पिछले भव में कम हुआ इस भव में उससे भी अधिक राग-वैभव-विलासता। मुक्ति मिले तो-कैसे मिले ? **सचमुच यह पुण्य भी कभी-कभी संसार का कारण बन जाता है, जब दृष्टि समीचीनता से रहित होती है।** घबड़ाओ मत! पुरुष अपने विगत पुरुषार्थ से प्राप्त इतने से फल से संतुष्ट नहीं होता, समीचीन मार्ग की ओर बढ़ना है तो राग की आग को धीरे-धीरे बुझाना होगा। ललिताङ्ग की आयु कुछ पल्य की शेष रह गयी है कि उसके पुण्य से उसे फिर एक ऐसी देवी मिली जो अन्त समय तक उसकी पत्नी बनी रही। सभी से विशिष्ट वह स्वयंप्रभा भी आम की नयी

कली-सी ललिताङ्ग को भ्रमर-सा सुख देती थी। परस्पर में आसक्ति भाव इतना बढ़ गया कि ललिताङ्ग की आयु एक बूँद गिरने सी चली गयी। कुछ समय बचा कि देव के विशाल वक्षःस्थल पर पड़ी माला म्लान हो गई, आभूषण कान्तिहीन हो गए, कल्पवृक्ष काँपने लगे। यह सब देखकर वह दुःखी हो गया उसके विषाद को दूर करने के लिए सामानिक जाति के देवों ने उसे समझाया।

धैर्य मिला, प्रतिबोध को प्राप्त हुआ, विगत में किया पुरुषार्थ सामने आया और तृण की अग्नि के समान वह राग प्रज्वलित होकर अब शान्त हो गया। पन्द्रह दिन तक लगातार लोक के जिन चैत्यालयों की पूजा करता रहा तत्पश्चात् अच्युत स्वर्ग की जिन प्रतिमाओं की पूजा करता हुआ वह आयु के अन्त में वहीं सावधान चित्त होकर बैठ गया। देखो! समीचीन पुरुषार्थ का संस्कार। पूर्व भव में समाधिमरण किया था, प्रायोपगमन संन्यास लिया था, जिसमें स्वकृत और परकृत दोनों प्रकार का उपचार नहीं होता वही सावधानी आज याद आई, वही तपस्या आज एकाग्रता लाई और चैत्यवृक्ष के नीचे बैठा हुआ वह निःशंक हो दोनों हाथ जोड़कर उच्चस्वर से नमस्कार मंत्र का उच्चारण करता हुआ अदृश्यता को प्राप्त हो गया। धन्य है वह देव जिसने अपने कल्याण की चिन्ता में देव पर्याय में भी पुरुषार्थ किया। इस जिनेन्द्र वन्दना से उपार्जित पुण्य का फल क्या मिलेगा? यह तो मालूम होगा पर अभी वह संयोग ललिताङ्ग को स्वयंप्रभा का वियोग हो जाने पर दुःखकारी हो गया। हालांकि देवियाँ तो बहुत सी थी पर स्वयंप्रभा में ललिताङ्ग का मन अधिक रमता था। स्वयंप्रभा भी अपनी राग काष्ठ से बढ़ी हुई, काम की कण्डे जैसी सुलगती अग्नि, मात्र ललिताङ्ग से ही शान्त करती थी। ललिताङ्ग का वियोग, बिना वृक्ष के ग्रीष्म ऋतु के समान संताप देता था। चकवा के वियोग में चकवी की तरह वह खेद-खिन्न होती हुई सदा शोकाकुल हो, विरह की वेदना में गुमशुम सी बैठी रहती। उसकी इस व्यथा को देख एक देव ने उसका शोक दूरकर उसको धैर्य बंधाया। उस देवी की आयु छह मास शेष थी। वह भी अपने पति का अनुसरण करती हुई सदा जिन-पूजा में संलग्न रहती। तदनन्तर सौमनस-वन सम्बन्धी पूर्व दिशा के जिनमन्दिर में चैत्यवृक्ष के नीचे पञ्चपरमेष्ठियों का स्मरण करते हुए, समाधिपूर्वक प्राणत्याग कर स्वर्ग से च्युत हो गयी। मानो कोई तारा टूट कर विलीन हो गया गगन में।

ललिताङ्गदेव चैत्यवृक्ष की उपासना में लीन है।

4. अल्पदान महाभोग

अब संप्राप्त **अष्टम भव** में वह ललिताङ्ग देव स्वर्ग से च्युत होकर इस जम्बूद्वीप के महामेरु से पूर्व दिशा में स्थित विदेहक्षेत्र में पुष्कलावती देश के उत्पल खेटनगर के राजा बज्रबाहु और रानी वसुन्धरा से **वज्रजंघ** इस सार्थक नाम को धारण करने वाला पुत्र हुआ। प्रतिदिन अपने गुण रूपी कलाओं की वृद्धि करता हुआ यौवन की दहलीज पर आते-आते वह पूर्ण चन्द्रमा-सा विकसित हो गया और अपने बन्धुवर्ग को हर्षित करता हुआ अपनी कान्ति से सदैव ही प्रसन्न रहता था। उसकी सुन्दरता का बखान क्या करना ? महाबल के भव में जो रूप, सौन्दर्य, गुण, चतुराई विद्यमान थी, उससे कहीं अधिक, इस भव में उसने पाया था, पुण्य का फल ऐसा ही है कि वह व्यक्ति को निरन्तर सांसारिक सुख का उत्कृष्ट उपभोग कराता हुआ अन्त में अरिहन्त पद का फल भी दिलाता है। हाँ, कभी-कभी पुण्य पुरुषों से किया गया राग भी कल्याण का कारण हो जाता है। हुआ यही कि स्वयंप्रभा ने अपना अनुराग ललिताङ्ग के शरीर तक ही नहीं रखा बल्कि उसके वियोग में भी वह जिनपूजन आदि करती हुई उसकी ही याद करती थी। धर्म कितना निष्पक्ष पदार्थ है, कितना सहिष्णु है कि वह पर में राग रखने वाले को भी प्रसन्न रखता है उसे उसके किए धर्म का फल तो देता ही है, राग से बाँधा हुआ कर्म का फल भी उसे मिल जाता है। स्वयंप्रभा का वह राग-बन्ध उसे वहाँ ले गया, जहाँ का राजा वज्रजंघ का मामा था। वह राजा वज्रदत्त था, उसकी रानी लक्ष्मीमति उन दोनों के वह स्वयंप्रभा देवी ही श्रीमती नाम की पुत्री हुई। जिसने जिनदेव के चरणों की पूजा की हो, उसके सुन्दर रूप का वर्णन तो जिनदेव से ही सम्भव है, मुझसे नहीं। अपने पुण्य से वह उस राजा की पुत्री हुई जो चक्रवर्ती बनने वाला है। वह श्रीमती इतनी सुन्दर थी कि उसके रूप को देखकर मनुष्य और देवता की बात तो जाने दो स्वयं कामदेव भी उन्मत्त हो जाता। यौवन के प्राप्त होने पर वह अपने सौन्दर्य की ख्याति से ऐसे प्रसिद्ध हो गई कि मानो कोई कली फूल

बनकर महकने लगी हो और चारों ओर से भ्रमर रूपी नरों को अपनी ओर बुला रही हो।

ऐसी श्रीमती किसी दिन अपने नगर के मनोहर उद्यान में यशोधर गुरु को केवलज्ञान हो जाने पर स्वर्ग के देवों के आगमन से होने वाले कोलाहल को सुन कुछ भयभीत हुई। उसे पूर्व जन्म का स्मरण हो आया, जिससे वह ललिताङ्ग देव का स्मरण करती हुई मूर्च्छित हो गई। शीतोपचार आदि के द्वारा जब वह होश में आई तो वह गुमशुम-सी चुपचाप बैठी रही, वह किसी से कुछ न बोली। यह समाचार जब पिता को ज्ञात हुआ तो उन्होंने अपने पास बुलाकर उससे बात करनी चाही पर वह फिर भी कुछ न बोली। थोड़ी देर बाद राजा समझ गए कि इसे किसी पूर्वजन्म का स्मरण हो आया है। वहाँ से लौटे तो उनकी आयुधशाला में चक्ररत्न उत्पन्न हो गया और साथ उनके पूज्य पिता के केवलज्ञान का समाचार भी प्राप्त हुआ। प्रथम तो वह केवलज्ञान की पूजा करने गए, बाद में चक्ररत्न को पूजकर दिग्विजय के लिए प्रस्थान किया। इसी बीच श्रीमती की एक पण्डिता नाम की धाय आई और श्रीमती को एकान्त में ले गयी। वहाँ उसने चातुर्य पूर्ण वचनों से बड़े प्यार से उसके मन की बात पूछी। उसने कहा पुत्री! मैं जानती हूँ कि इस उम्र में क्या-क्या रोग होते हैं? जिसके कारण तू मौन हैं। देख, मेरा नाम पण्डिता है, मैं प्रत्येक कार्य में कुशल हूँ। मैं यह तो जानती हूँ कि तुझे क्या रोग है और उसका निदान क्या है, पर वह निदान कहाँ होगा, बस तू मुझे इतना बता दे, आगे सब कार्य मेरा। बेटी! मैंने तुझे जन्म से पाला है इसलिए मैं तेरी माँ समान हूँ और माँ से कोई रोग छुपाना ठीक नहीं है। यदि तू माँ को न बताना चाहती है तो मत बता, मैं तेरे साथ हमेशा रहती हूँ इसलिए तुम्हारी प्रिय सखी भी मैं ही हूँ। मेरी सखी किसी बात से परेशान रहे और मैं उसका समाधान न कर पाऊँ तो मेरा सखीपना व्यर्थ है। इसलिए अपनी सखी समझ कर तो बता। श्रीमती मुझसे शर्माओ मत, अपने दिल की बात सखी से कहने से मन हल्का हो जाता है और फिर मैं तो निश्चित कह रही हूँ कि तेरा कार्य, तेरा मनोरथ अवश्य पूर्ण करूँगी और देख तेरे भाग्य से अभी तेरे पिताजी दिग्विजय के लिए गए हैं इसलिए इस सुयोग्य अवसर को मत खो। श्रीमती कुछ कहने को हुई कि फिर रुक गई तो पण्डिता ने कहा-बोल-बोल यहाँ कोई

नहीं है, इसीलिए तो मैं तुझे एकान्त में लाई हूँ। अब की बार श्रीमती ने फिर धैर्य बाँधा और कहा- मैं कहने में लज्जा अनुभव करती हूँ, पर इसके बिना दूसरा रास्ता नहीं है। हे सखी! मेरी कथा बहुत बड़ी है पर, मैं संक्षेप में कहती हूँ जिसका स्मरण आज इन देवों के आगमन से मुझे हो गया।

मैं पहले नागदत्त नाम के वैश्य की पुत्री थी। किसी दिन मैंने चारण चरित नामक मनोहर वन में अम्बर तिलक पर्वत पर विराजमान पिहितास्रव नाम के मुनिराज के दर्शन किए, पश्चात् मैंने उनसे पूछा कि हे भगवन्! मैं ऐसे दरिद्र कुल में क्यों उत्पन्न हुई हूँ? इस प्रकार पूछने पर करुण हृदय मुनिराज ने अपने अवधिज्ञान से बताया कि पूर्वभव में एक समाधिगुप्त मुनिराज थे, वे अपना स्तोत्र पढ़ रहे थे कि तूने उन्हें देखकर हँसी-हँसी में उनके सामने मरे हुए कुत्ते का कलेवर डाला था और इस अज्ञान पूर्ण कार्य से खुश भी हुई थी। यह देखकर मुनिराज ने तुझसे कहा कि बालिके! तूने यह अच्छा नहीं किया भविष्य में इसका फल तुझे पीड़ा देने वाला होगा क्योंकि **पूज्य-तपस्वी पुरुषों का अपमान इस भव में या पर भव में नियम से बुरा फल देता है।** मुनिराज के ऐसा कहने पर उसी समय उनसे तूने क्षमा माँग उस क्षमा भाव से जो पुण्यबंध हुआ उसके कारण तू इस मनुष्य योनि में जन्मी किन्तु अपमान के भाव से बंधा हुआ दुष्कर्म तुझे दरिद्र बनाये रखा है। इसलिए हे कल्याणि! अब जिनगुण-सम्पत्ति और श्रुतज्ञान के उपवास क्रम से ग्रहण करो। इन अनशनादि तप के बिना पूर्व संचित कर्म का क्षय नहीं होगा, न आगामी सुख के लिए पुण्य बंध। भविष्य में कभी मुनियों का अनादर नहीं करना। जो लोग मन से निरन्तर मुनियों का निरादर करते रहते हैं, वे अगले जन्म में स्मरण शक्ति से हीन होते हैं। जो लोग वचनों से मुनियों के लिए अपमान जनक वचन बोलते हैं, वे दूसरे भव में गूंगे होते हैं और जो काय से मुनि का अनादर करते हैं वे ऐसे कौन से दुःख हैं जो उन्हें प्राप्त नहीं होते अर्थात् उन्हें सभी दुःख भोगने पड़ते हैं। इस भव में ही शरीर में ही कोढ़ आदि भयंकर रोगों का भाजन बनना पड़ता है। अस्तु! इस प्रकार मुनिराज के वचन सुनकर मैंने दोनों व्रतों के विधि पूर्वक उपवास किए, जिन उपवास को जिन तिथि और दिन में करना होता है, उन्हीं में किया तथा मरणकर ललिताङ्गदेव की स्वयंप्रभा रानी हुई, उनके साथ मैंने अनेक भोग

भोगे, वहाँ से च्युत होकर मैं वज्रदत्त चक्रवर्ती की पुत्री हुई हूँ। हे सखी! वह ललिताङ्ग देव मेरे हृदय में टांकी-सा उकेरा हुआ सदा ही मुझे व्याकुल करता है, मुझे प्रतिपल उसी का स्मरण रहता है। मुझे पता नहीं स्वर्ग से आकर उसका जन्म कहाँ हुआ पर मेरा मन उनके अलावा किसी और को नहीं चाहता। हे सखी! मेरे इस कार्य की सिद्धि सफल तुम ही कर सकती हो, यही सोचकर मैंने यह वृत्तान्त तुम्हें सुनाया है, यदि यह कार्य नहीं हुआ तो उनके विरह में मैं मर जाऊँगी, किसी और से विवाह नहीं करूँगी। पण्डिता ने उसको धैर्य दिलाया और कहा श्रीमती यह कार्य कठिन जरूर है, पर असम्भव नहीं, मैं तेरे पति को अवश्य खोज लाती हूँ। वह पण्डिता इस प्रकार कहकर एक चित्रपट को लेकर शीघ्र ही अत्यन्त पवित्र जिनमन्दिर गई। उस जिनमन्दिर में जाकर पहले पण्डिता ने श्री जिनेन्द्रदेव की वन्दना की फिर वह वहाँ की चित्रशाला में अपना चित्रपट फैलाकर आये हुए लोगों की परीक्षा करने की इच्छा से बैठ गई। विशाल बुद्धि के धारक कितने ही पुरुष आकर बड़ी सावधानी से उस चित्रपट को देखने लगे और कितने ही उसे देखकर यह क्या है? इस प्रकार से जोर से बोलने लगते। वह पण्डिता समुचित वाक्यों से उन सबका उत्तर देती और मूर्ख लोगों पर मन्दमन्द हँसती। वहाँ वासव और दुर्दान्त दो व्यक्ति आये और कहा कि हम दोनों चित्रपटों का स्पष्ट आशय जानते हैं। उन्होंने कहा-किसी राजपुत्री को जातिस्मरण हुआ है इसलिए उसने अपने पूर्व भव की समस्त चेष्टाएँ लिखी हैं और बड़ी चतुराई से बोले कि इस राजपुत्री के पूर्व जन्म के पति हम ही हैं। यह सब सुनकर पण्डिता ने कहा ठीक है, हो सकता है आप ही इसके पति हों। पर जरा इन गूढ़ चित्रों का अर्थ भी तो बताइये। उन गूढ़ चित्रों का उत्तर देने में असमर्थ वे चुपचाप वहाँ से चले गए। तत्पश्चात् वह महाभाग गूढ़ पुरुष आया। उस भव्य ने आकर पहले जिनमन्दिर की प्रदक्षिणा दी फिर जिनेन्द्रदेव की स्तुति कर उन्हें प्रणाम किया, उनकी पूजा की फिर चित्रशाला में प्रवेश किया। चित्रपट को देखकर उसने कहा, ऐसा लगता है मानो इस चित्रपट में लिखा हुआ मेरा विगत जीवन ही हो। दूसरे चित्र को देखकर उसने कहा अरे! यह चित्र बड़ी चतुराई से भरा हुआ है, अहो यह तो साक्षात् ललिताङ्ग ही है और यह प्राणप्यारी मानो स्वयंप्रभा का रूप ही हो, यह श्रीप्रभ विमान, यह

कल्पवृक्ष, ये मुझसे मुँह फारकर बैठी हुई स्वयंप्रभा, मेरे स्नेह की राह देख रही हो, यह मुझसे नाराज हुई मुझे अपने कर्ण फूलों से मार रही है, यह अपने ओठों की लालिमा से अंगुली से मेरे हृदय पर अपना नाम लिख रही है, परन्तु कुछ छूट गया, वह नहीं बनाया जब मैं उसके ललाट से अंगुली फेरते हुए आते-आते उसके गर्दन तक लाता तो शर्माकर दूर भाग जाती, निश्चय ही यह स्वयंप्रभा के हाथों की चतुराई ही है। इस प्रकार ऊहापोह करता हुआ उसका गला भर आया, उसकी आँखें नम हो गईं और मूर्च्छित-सा होकर वहीं बैठ गया। धीरे-धीरे जब वह सचेत हुआ तो उसने पण्डिता से पूछा हे भद्रे! यह सब लीला क्या है? और क्यों बनायी गयी है? पण्डिता ने उसे सारा हाल सुनाया, बाद में राजकुमार ने अपना चित्र उस धाय को दिया तथा स्वयंप्रभा का चित्रपट लेकर चल दिया और कहा कि श्रीमती से कहना मैं जल्द ही आऊँगा। यह सब कार्य पूर्ण होने में जितने दिन लगे तब तक वह चक्रवर्ती दिग्विजय से वापस लौटे। जब वह केवलज्ञानी गुरु के दर्शन करने गए थे तभी उनके भावों की विशुद्धि से उन्हें प्रणाम करते ही अवधिज्ञान उत्पन्न हो गया था। चक्रवर्ती ने घर आकर उस अवधिज्ञान से श्रीमती की घटना को जाना और श्रीमती को अपने पूर्वभव भी सुनाये। पश्चात् श्रीमती को आश्वासन देकर चक्रवर्ती ने अपने बहनोई वज्रबाहु, बहिन और भानजे को बुलावा भेजा। पाहुनों का आगमन हुआ, बातचीत हुई और वज्रजंघ तथा श्रीमती का विवाह बड़े ठाटबाट से हुआ। चिरकाल से बिछुड़े हुए चकवा-चकवी के समान उनका समागम सबको प्रिय था। उत्तम साधारण मनुष्यों को अनुपलब्ध ऐसे उत्तम-उत्तम दिव्य भोगों को भोगता हुआ, उसका चित्त श्रीमती के अलावा कहीं नहीं लगता था। जैसे बने तैसे, जब तक बने तब तक, वे दोनों एक-दूसरे को सन्तुष्ट करते हुए सुखपूर्वक समय व्यतीत करते। वज्रजंघ ने दो मुनियों को वन में दान दिया, उस आहारदान के प्रताप से पञ्चाश्चर्य हुए और अतिशय पुण्य का बंध हुआ, उसने दमधर नाम के मुनिराज से अपने पूर्व भव पूछे, धर्म का स्वरूप समझा। धर्म, अर्थ और काम तीनों पुरुषार्थों को करता हुआ एक दिन वह अपने शयनागार में अपनी रानी के साथ सुख क्रीड़ा में लिप्त था, उस शयनागार में सुगन्धी और केश संस्कार के लिए धूम्रघट रखे गए थे। एक महज संयोग, उस रात्रि में झरोखे

बन्द थे, उन धूम्रघटों से निकलता हुआ काला धूम्र ही उन दोनों का काल बन गया। श्वास निरुद्ध होने से दोनों के प्राण-पखेरू साथ-साथ उड़ गए। सपना साकार हुआ, साथ-साथ जीने की कसम खाई थी, साथ-साथ ही मर गए। **धिक्कार ऐसी भोग-उपभोग की सामग्री जो प्राणों का ही हरण कर ले। धिक्कार है उस वासना को जो विवेक का ही अपहरण कर ले।** अस्तु, दोनों का मरण हुआ, मुनिराजों को आहारदान दिया था, उससे भोगभूमि की आयु का बंध किया और बचे हुए पुण्य का उपभोग करने को गए, एक साथ दूसरी जगह मानो एक घर को छोड़कर कोई दूसरे नए घर में गया हो और अब प्रारम्भ हुआ एक नया अध्याय।

❑❑❑

वज्रजंघ और श्रीमती युगल चारण ऋद्धि मुनिराज को आहारदान करते हुए।

भोगभूमि में आर्य वज्रजंघ

5. द्रष्टा सम्यक् बना

संसार में भ्रमण का **सप्तम** भव था। मरण हुआ तो जन्म निश्चित ही है पर उन दोनों का जन्म वहाँ हुआ जहाँ पर अक्सर लोग दान के प्रभाव से ही उत्पन्न होते हैं। ऐसा नहीं कि सभी दान देने वाले वहीं पर ही जन्म लेते हैं, किन्तु जो दान तो देते हैं उत्तम पात्र को, किन्तु मिथ्यात्व को भी अन्तस् में पाले रखते हैं, उन्हें पुण्य का फल यह भोगभूमि में फलता है। जन्म तो स्त्री के गर्भ में ही होता है पर जैसा कर्मभूमि के मनुष्य को गर्भ के प्रसव में पीड़ा होती है वैसी वहाँ नहीं होती। वहाँ साथ-साथ जन्मते हैं, साथ-साथ जीते हैं और साथ-साथ मरते हैं। युगल का जन्म होता है उसी समय युगल को उत्पन्न करने वालों का मरण होता है। साथ-साथ जन्मे हुए बड़े होकर पति पत्नी-सा व्यवहार करते हैं और कोई दूसरा सम्बन्ध नहीं, न भाई-बहिन का, न माता-पिता का, इसी से फलित है कि दुनिया में सबसे बड़ा सुख स्त्री-पुरुष का निर्विघ्न संयोग है। जैसे-जैसे संयोग बढ़ता है, व्यक्ति दुःखी होता जाता है शायद इसीलिए स्वर्ग और भोगभूमि में कोई दूसरा संयोग नहीं होता। वहाँ कोई किसी की स्त्री को बुरी नजर से नहीं देखता, न ही कोई स्त्री किसी दूसरे को अपना पति बनाने का भाव करती है, बाहरी सुख तो मिलते हैं, पर उन सुख में व्यक्ति सुखी तभी रह सकता है, जबकि अन्दर भी कुछ सुख की सामग्री हो। वह सुख की सामग्री है सदा शुभ लेश्या यानी शुभ भाव, सरलता, सन्तोष और इसी बल पर वे नियम से इस भूमि पर सुख भोगने के उपरान्त स्वर्ग का सुख अवश्य भोगते हैं। विशुद्ध भावों से उत्तम पात्र को दान देने का इतना विशिष्ट फल कि यह भोगभूमि का सुख तो सुबह के नाश्ता जैसा, बाद में स्वर्ग का सुख का भरपूर भोजन जैसा। यह सब कल्पना नहीं पुण्य और पाप के उपभोग के स्थान बने हैं, जो अनादि से हैं जीव अपनी स्वतन्त्रता से कर्म कमाता है और उसी का फल भी भोगता है। सभी प्रकार के रत्नों से बनी दिव्यभूमि, जिस पर चार अंगुल ऊँची घास सदैव लहलहाती है। जहाँ दस प्रकार के कल्पवृक्ष हैं,

जो जीव को मन चाही सामग्री उपलब्ध कराते रहते हैं। ये वृक्ष उगकर बड़े नहीं हुए हैं इसीलिए वनस्पतिकायिक नहीं हैं और न देवों के द्वारा बनाये हुए हैं। स्वभाव से ही इस जगत् की विचित्र व्यवस्थाएँ चलती रहती हैं। उस गर्भ से जन्म लेने के उपरान्त छह सप्ताह में ही वे पूर्ण जवान हो जाते हैं और सातवें सप्ताह में तो अच्छे-अच्छे वस्त्राभूषण धारण कर भोग भोगने योग्य हो जाते हैं। बहुत आयु होने पर भी यहाँ अकालमरण नहीं, सदा एक समान सुख, छह ऋतुओं की सामग्री एक साथ, उत्कृष्ट संहनन, कान्तिमान शरीर, मनोहर चेष्टाएँ, सभी कलाओं में निपुण, सदा प्रसन्नता। एक समय वह वज्रजंघ का जीव जब आर्य बनकर अपनी स्त्री के साथ कल्पवृक्ष की शोभा निहारता हुआ बैठा था कि आकाश में एक देव का विमान दिखा, जिसे देखते ही दोनों को जातिस्मरण हो गया और संसार का वास्तविक चित्र सामने आ गया। यह उपादान के जागृत होने का समय है, मानो इसीलिए दोनों की दोनों आँखें खुली की खुली रह गयीं। अब संसार में भ्रमण करते-करते यह आत्मा अत्यन्त तृप्त हो गयी है, विमान देखने में, जुती हुई मिट्टी की तरह मानो ऊपर मुख किए हैं, बरसात होने की देर है कि अनादिकाल से सुप्त हुआ बीज अंकुरित हो जाये, सोचते-सोचते वह बरसात लिए दो चारण ऋद्धिधारी मुनिराजों के मेघ आ गए। आतम माटी अत्यन्त खुश हुई और विगत के दुष्कर्मों की पश्चाताप की आग बनकर नयनों से बाहर निकलने लगी। पात्र में लगा पुराना मल जब तक साफ नहीं होता और पात्र साफ-स्वच्छ नहीं होता तब तक नव अमृत को उसमें कैसे रखा जाये? **जन्म-जन्म से की हुई गलती को सुधारने में भी कई जन्म लगते हैं, तब कहीं कोई महापुरुष बनता है।** मोक्ष पद मिलता धीरे-धीरे यह बात सामने आ जाती है। दोनों जीवों के दोनों नयनों से लगातार अस्रुधारा प्रवाहमान है। इस भोगभूमि में इन मुनिराजों के दर्शन, आत्मग्लानि से ओतप्रोत और विनय से भरपूर हाथ जोड़े खड़े हुए युगलों को देखकर युगल मुनिराज वहीं रुक गए। वज्रजंघ आर्य ने मुनिराजों के चरणयुगल में अर्घ चढ़ाया, नमस्कार किया और अति विनय से उनके आगमन का समाचार पूछा। **यह विनय बहुत दुर्लभ गुण है, पूर्व जन्म में लिए हुए संस्कार और तप से प्राप्त होता है।** मानता हूँ कि उपादान की काललब्धि आयी है, निमित्त-उपादान के पास चलकर आये हैं

पर **समर्थ उपादान भी निमित्त का अनादर नहीं करता।** अहो! सम्यक्त्व प्राप्ति से पूर्व में इतना विनय और आदर फिर सम्यक्त्व प्राप्ति के बाद तो क्या कहना! मुनिराज मौन हैं, वे देख रहे हैं उसकी भक्ति, उसकी उत्सुकता। पुनः आर्य पूछता है, भगवन् कुछ बताओ। मुझे ऐसा लग रहा है, मानो मैं आपसे पूर्व से परिचित हूँ, आप हमारे अनन्य मित्र रहे हैं। तब ज्येष्ठ मुनि कुछ मुस्कुराते हुए अपनी दन्त रश्मि से भव्य का शोक दूर करते हुए कहते हैं।

हे आर्य! मैं स्वयंबुद्ध मंत्री का जीव हूँ। जब तुम महाबल थे, तब मेरे सम्बोधन से तुम सल्लेखना को प्राप्त कर स्वर्ग गए। तुम्हारे वियोग में मैंने दीक्षा धारण की थी और समाधिमरण कर देव हुआ फिर मनुष्य बना, दीक्षा लेकर तपोबल से अवधिज्ञान और ऋद्धियों को प्राप्त हुआ हूँ। अवधिज्ञान से तुमको जाना और मित्र स्नेह से आपको समझाने आया हूँ। भोगों की रुचि छोड़कर जब तक निर्मल सम्यग्दर्शन धारण नहीं किया जाता है तब तक हे आर्य! इस संसार के दुःखों का अन्त नहीं होता। धर्म का स्वरूप सुनकर, समझकर भी, मन इच्छाओं का दास बना ही रहता है। **यह इच्छा की शक्तियाँ हमारे आत्मज्ञान की शक्ति को कम करती रहती हैं। शक्ति का केन्द्रीय-करण न होने से ही आत्मज्ञान की प्राप्ति नहीं होती।** भोगों को छोड़कर मात्र वन में चले जाना वैराग्य नहीं है, किन्तु वस्तु स्वभाव को समझकर, वस्तु के गुण-निर्गुणपन का विचारकर भोगों को कभी स्मृति में न लाना ही सम्यग्ज्ञान है, वैराग्य है। साधु और संसारी में अन्तर है ही क्या? संसारी जन पाँच इन्द्रियों के विषयों में मन की इच्छापूर्ति में सुख मानते हैं और साधु इनसे विपरीत बुद्धिवाला होता है। **यदि साधु होकर भी पञ्चेन्द्रिय को न जीता, इन्द्रिय विषयों की अभिलाषा को न छोड़ा तो मात्र नग्न बाना ज्ञानियों की दृष्टि में हास्य बाना है, अज्ञानी भले ही तुम्हें पूजता रहे और तुम अपने को ज्ञानी समझते रहो।** इन्द्रियाँ पाँच हैं, एक मन हैं बस छह ही तो पदार्थ हैं, जिन्हें जीतना है ऐसा समझना भोलापन है। वस्तुतः इन छह से ही संसार बना है, इनको जीतना सरल है ऐसा समझकर यदि बेपरवाह रहे तो आगामी भविष्य में भी कल्याण असम्भव है। जब हम इन छह इन्द्रियों और उनके विषयों को छोड़ देते हैं तो हम मात्र स्वसंवेदन का अनुभव कर पाते हैं, तब यह जगत् शून्य

प्रतिभासित होता है। जगत् में शून्यता का प्रतिभास हो और हमें भय न लगकर आनन्द हो, यह रुचि जब जागृत हो तो मोक्षमार्ग को हमने समझा, जाना ऐसा समझना अन्यथा सब मोह-मार्ग है, मोह का विस्तार है। इसलिए अपनी पैनी प्रज्ञा से जीव और अजीव दो ही द्रव्य में भेद का अभ्यास कर, जिससे अनादि से पले हुए मिथ्यात्व का शमन हो, फिर क्षयोपशम होकर क्षय हो सके। हे आर्य! तुम भव्य हो किन्तु अभी तक इस बहुमूल्य रत्न के अभाव में ही भटकते रहे हो अब एकाग्रचित्त होकर प्राप्त देशनालब्धि के मनन से विशुद्धि बढ़ाते हुए अपने अन्तःकरण से अन्तरकरण परिणामों को प्राप्त कर और दुर्लभ सम्यग्दर्शन का लाभ प्राप्त करो। परम-पुरुष अर्हत् भट्टारक के वचनों को प्रमाण कर शनैःशनैः जब वह आत्मवत् समस्त समष्टि में चेतना ही देखता है तो वह समद्रष्टा बन जाता है भले ही वह सर्वद्रष्टा न हो। इस दृष्टि की अनुपलब्धि से परिमित प्रज्ञा भी समीचीन नहीं होती इसीलिए चरण गहराई में नहीं उतरते। यह सम्यग्दर्शन एक दिव्य प्रकाश है। प्रकाश ही जीवन है अन्धकार तो मृत्यु है इसीलिए प्रकाश से प्रकाशित वस्तु भी अनमोल हो जाती है यह प्रकाश की महत्ता है। षट् द्रव्यों की अनवरत परिणति और उनकी आस्तिक्यता पर विश्वास बिना, मन की उद्विग्नता का अन्त कहाँ? बिना अनुद्विग्न हुए समरसी विश्व कहाँ? यह समरसता वह परम रसायन है, जिसके सद्भाव में, चेतन में, अचेतन में यह आत्मा समानता से आप्लावित हो जाती है और सहज कारुणिक भाव से वह प्रत्येक को अनन्यमना हो लखता है, तब वह अलख शाश्वत तत्त्व जो विश्व की चूलिका पर विराजमान है, अन्तस् में श्रद्धान से वैसा ही प्रस्फुटित होता है। प्रारब्ध तो द्वैत से होता है, अद्वैत की दृष्टि से चेतन से चिपटी कर्म रज वृक्ष से पक्वफल की तरह स्वतः निर्जरित हो जाती है और अन्तरङ्ग में चैतन्य प्रकाश निराबाध निखरता जाता है। सृष्टि स्वयं में सिमटती चली आती है, अपने में होकर भी परत्व से जिसमें विद्वेष नहीं। अनन्त सम्भावनाओं से खचित आत्म द्रव्य की अविनश्वर सत्ता को अभी तक तुमने खोया नहीं, आज जागृत हो, उसे देखो, वह लहरें थीं, जो अनन्त क्षणों की अनन्त परिणतियों से दूर लगती हैं, पर वह इस आत्म-रत्नाकर से बहिर्भूत नहीं। इसी रत्नाकर से निकलकर इसी में विलीन हो गयीं हैं। इस किनारे से उस पार तक यह निरा चैतन्य का ही विस्तार

है। इस चैतन्य रत्नाकर से बाहर कुछ भी नहीं गया। वह नमक की डली-सा अन्दर बाहर एक-सा अखण्ड ज्ञायक समरस प्रत्येक प्रदेश में स्वभावतः अपनी सत्ता से आपूरित, अनन्त गुणों का राजस्व लिए, आकाशवत् निर्मल होते हुए भी ज्ञान का ज्योतिः पुंज, रहस्यमय गगन में, अपने को अद्यावधि, पर द्रव्य से अबाधित हो, निराकुल ही बनाये हुए है। इस रहस्य का आज हे आर्य! उद्घाटन हो, सामयिक सत्ता का अनुभावन हो, निखिल विश्व में चेतन और अचेतन का स्पष्टतः आभास हो, दृश्य-परिदृश्य से दूर स्वतः अनुभवन की योग्यता में अविलम्ब हो, देशना की इस अनुपम घड़ी में डूबो और निरायास प्राप्त अपने में उस परम मह (केवलज्ञान) का विज्ञान हो, काल की प्रत्येक कणिका पर कलि केलि के चिह्नों को देखो और नैपथ्य में विकल केलि को, प्रति श्वास-प्रश्वास की धारा में कैवल्य का विश्वास हो, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, स्वामित्व के अहंकृत कुलाचलों पर अब प्रज्ञा से वज्र प्रहार करो। इच्छा, आकांक्षा, महत्त्वाकांक्षा, वाञ्छा, पराकांक्षा, उत्कर्ष, आत्मोत्कर्ष, प्रकर्ष, काम, असहिष्णु, दम्भ, गर्व, लुम्भन, लोकैषणा, स्वैराचार, मायाचार से रहित क्षुद्र जीव जन्तुओं से रहित निर्मल आत्म जलाशय में स्वस्वरूप को लखो-लखो-लखो.....।

प्रणत उत्तमांग पर दृष्टिपात करते ज्येष्ठ मुनि ने आर्यभार्या को प्रतिबोधित किया और कहा यह दिव्यप्रकाश, बहुमूल्य रत्न तुम्हारे लिए भी ग्राह्य है कल्याणि! इससे यह स्त्री पर्याय का विच्छेद आगामी भव में सहज है। पुंसत्व बिना विचारों की स्थिरता नहीं होती। चंचलता ही विभ्रमता की जननी है और ध्यान में बाधक है। बिना ध्यान मोक्ष नहीं इसलिए सुलभ प्राप्त कालयोग में सम्यग्दर्शन का लाभ, काल को भी परास्त करने वाला है। इस प्रकार प्रतिबोध को प्राप्त हुए आर्य और आर्या अनन्त संसार को अपने में समेटकर क्षणमात्र में केन्द्र पर स्थित हो गए। प्रणमन हुआ युगल मुनि के युगल चरण कमलों में और अगले ही पल शुभ मेघ के समान अन्तर्धान हो गए। अपने कर्तृत्व से दूर कर्त्तव्य के पूर में आच्छादित, दोनों कारुणिक मूर्तियाँ सहसा, गगन में दूर-दूर तक निस्तब्ध, निःशब्द, निर्बन्ध .....।

आज आर्य को लगा मैं अब संसार सागर पर तैर रहा हूँ, मैंने विश्व को अपने में समेट लिया या प्रत्येक पदार्थ को उसी के परिणमन के लिए स्वतन्त्र

किया यह जानना मनः अगोचर है। कृपापात्र स्वयंबुद्ध मंत्री के जीव में मेरे कल्याण का अथक अरुक प्रयास अद्भुत है। अपनी ही स्वायत्त गुणों की शाश्वत सत्ता में रमण करने वाले चारण युगलों का मेरे प्रति करुण स्पन्दन मेरे रोम-रोम को रोमाञ्चित कर रहा है।

इस विलासता के उत्कृष्टधाम में विरागता का उत्कृष्ट पाठ पढ़ाने वाला वह चैतन्य अमर रहे। दया से आर्द्र एक संचेतन हृदय ने मेरी कठोर निष्ठुर आत्मा को द्रवित कर अनन्त जीवों की पीड़ा से अछूते बने मेरे आत्मीय स्वभाव में अकारण लोकोत्तर करुणा का अजस्र स्रोत प्रस्फुटित किया है। आज इस चराचर जगत् में आत्मीयता का समुद्वहन करा के आनन्द से ओत-प्रोत किया है। हे आर्ये! आज मैंने तुम्हें पूर्ण पा लिया। पूर्व भव में मेरा तुम्हें पाने का संकल्प अधूरा रह गया था। तुम्हें अपने में समेटकर भी अमूर्त काल ने मेरे स्वप्न को अमूर्त कर दिया। आज मेरा पूर्ण काम हुआ, वासना से परे निष्काम हुआ। हाँ, महाभाग! आज हम दोनों का अपूर्व मिलन हुआ। यह संयोग अब कभी वियोग मुख का भाजन नहीं बनेगा। त्रिजगत् को आहरण करने की महाक्षुधा का आज शमन हुआ। आज में अर्धांगिनी न रहकर आपके अंग-अंग में पहुँच पूर्णांगिनी हुई। अखण्ड सुख का सर्वत्र आत्म सरोवर में युगपत् आभासन! मैं कृतार्थ हुई, सर्वस्वामिनी बनी, पीतकामिनी हो।

इस प्रकार चिन्तन की अखण्ड धारा में सम्यक्त्व की दृढ़िमा से परस्पर में संप्राप्त अखण्ड प्रीति से शेष जीवन को जीवन्त हो जिया और अन्तिम क्षण में विलीन वह आर्य ऐशान स्वर्ग में श्रीप्रभ विमान में श्रीधर नाम का ऋद्धिधारी देव हुआ तथा वह आर्या भी स्त्रीलिंग से सदा के लिए मुक्ति पा स्वयंप्रभ विमान में स्वयंप्रभ नाम का उत्तम देव हो क्रीड़ालय के रमण में आसक्त हुई।

❑❑❑

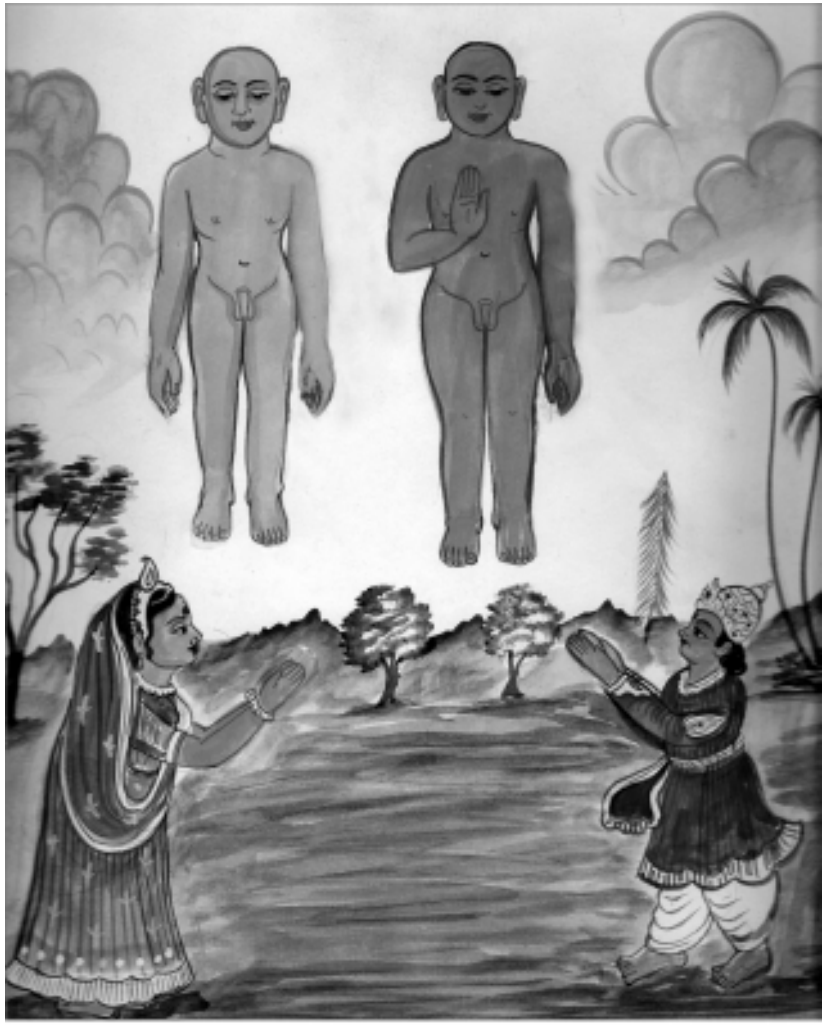

भोगभूमि में आर्य युगल को सम्बोधित करते हुए चारण ऋद्धि मुनिराज

श्रीधर देव अकृत्रिम जिनालय की वन्दना को जाते हुए।

6. नियोग, जो भोगना है

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बाद पहला संसार मिला जो महानिर्वाण होने से पूर्व का **छठवां** संसार है। मन्दाकिनी से शुभ्र स्वप्निल शय्या पर उत्पन्न होते ही कुछ क्षण बीते कि वह देव पूर्ण युवा हंस-सा प्रकृति का अलौकिक रत्नाभ लिए कान्तिमान देह में अन्तस् के समीचीन रत्न के तेज को बाहर प्रस्फुरित करता-सा प्रतिभासित हुआ। अनिमेष पलक वाले दीर्घायत नयनों से उपपाद शय्या की शोभा निहारता हुआ कुछ पल विस्मित रहा। उत्तम-उत्तम आभूषण से सज्जित वेषभूषा में अपने को देख जब मौन छा गया तो चहुँ ओर रत्नों की पारदर्शिता में झलकते अप्सराओं के मुख कमल गिनने में असमर्थ हो पूछा-मैं कहाँ हूँ? मैं कौन हूँ? परिचारकों से परिचय मिला पर असन्तुष्ट तब तद्भव निमित्तक आत्म ज्ञान से सब कुछ यथार्थ देखा जाना। तदुपरान्त मंगल अभिषेक, नृत्यवादन आदि जय-जयकारों से सारा वातावरण क्षुब्ध हो गया। आओ देव, यहाँ बैठो, यहाँ चलो, हम आपकी सेवा में सादर प्रतीक्षित हैं, इत्यादि अनेक प्रीति श्रुत वचनों से अन्य देवों से सम्मानित और अनेक देवियों, पट्टदेवियों से सेवित विपुल वैभव को आनन्द से भोगते गए। अभी तक कुलदेवता के रूप में जिन अर्हंतबिम्बों की पूजा की जाती थी, आज सम्यक् देव का स्वरूप उन्हीं बिम्बों में झलकने लगा। सम्यग्ज्ञान का माहात्म्य और उसकी देव, निर्ग्रन्थ मार्ग के प्रति रुचि बहुतों को सम्यग्दृष्टि प्रदान कराने में कारण हो गयी। पाताल लोक तक विहार, वहीं तक अवधि नेत्रों से वस्तु स्थिति का दिग्दर्शन तो सहज स्वशक्ति वशात् था, किन्तु अन्य मित्र देवों के साथ ऊर्ध्वगमन भी अपने विमान के ध्वजदण्ड का उल्लंघन कर जाता था। उन विमानों में अद्भुत अनिवर्चनीय, अगणित महिमा-मण्डित जिनबिम्बों की दर्शनीयता हृदय में मानो सदा के लिए प्रतिबिम्बित हो गई और सीमातीत गमन का निमित्त बन गई। तिर्यक् दिशा में मेरुपर्वत ही वह मनोहारी केन्द्र बिन्दु है, जहाँ दूर-दूर घूम आने के बाद भी भद्रशाल, नन्दन, सौमनस वन की गुल्म वल्लरियों, विशालकाय काननों में,

सर्वऋतु सम्पन्न सौरभ का आकर्षण, एकान्त निर्झरों में ऋद्धिमान् तेजपुञ्ज नग्न मूर्तियों का दर्शन, तन-मन की थकान को पलायित कर देता। स्वस्थान पर तिष्ठते हुए विचित्र वैक्रियिक शक्ति से कुलाचलों और द्वीपों पर केशरीवत् उत्तालभ्रमण, विजयार्ध के गुफा द्वार हों या रजताचल की मेखला पर श्रेणिबद्ध प्रदेश, शशि सम निर्मल गंगा-सिन्धु की धारा में आप्लावन, तो कभी स्वयंभूरमण तक निराबाध गति, लवणसमुद्र की आरब्ध वेला, तो कभी मानुषोत्तर के दिग्-दिगन्त तक फैले जिनभवन, गिरिकूटों, वृषभाचलों, वक्षारों, विदेह की विभंग सरिताओं में अवगाहन तो कभी घनी दरीसरों, कन्दराओं और चैत्यवृक्षों पर स्वैररमण, सागर पर्यन्त आयु को क्रीड़ा-लीलावलीला से प्रतिपल रंगित तरंगित कर देती। असीमित रंग रेलियों में जौंक की तरह इन्द्रिय सुख में सतृष्ण, सुखकामना से अतृप्त मन जब दूर-दूर तक सुख की छाँव नहीं पाता है तो सहज ही अपने आत्मीय जनों का दिव्य उपदेश याद आता है।

बहुत क्षण बीते, तब श्रीधर को अपने उपकारी, दिव्य नेत्र प्रणेता, मोह विजेता, ऊर्ध्वरेता, अलौकिक प्रीति के संचेता प्रीतिंकर मुनिराज का स्मरण हो आया। अवधि रूपी ज्ञान नेत्र से यथार्थ को प्रतिबिम्बवत् देखा और चल दिया श्रीगुरु के चरणों में, जो श्रीगुरु अब केवलज्ञान-दिव्यप्रकाश से परिपूर्ण ज्ञाता हो गए थे। उनका निखिल के प्रति प्रीतिभाव सार्थक हुआ और प्रीतिंकर स्नातक की अन्बर्धता को धारण किए हुए श्रीप्रभ पर्वत पर विराजमान हैं। दिव्य अतिदिव्य सामग्री से युक्त हो, अपने वैभव को साथ लिए दिव्य आत्मा के चरण कमलों में श्रद्धा से प्रणिपात कर, परिक्रमण विधि से अत्यन्त भक्ति से भरे नम्र पुण्डरीक-सा गुणों का अर्चन-पूजन कर, लोक-परलोक के पाथेय को संचित कर जब वह आत्मिक तेज के बहिस्फुटन को देखकर भी न देख सका, तब उसने अपनी अनन्त इच्छाओं का विसर्जन कर अनिमेष नयन टिका दिए। भगवत् नयनवत् नासाग्र दिव्य-दृष्टि पर; जिसमें प्रतिबिम्बित है समूचा लोकालोक; महासमुद्र में एक तुच्छ द्वीप की तरह, सभी प्रश्न दर्शन मात्र से उत्तरित हो उठे, क्षणभर सोचता रहा यह पारस्परिक वचनालाप भी दर्शन के सुख में अन्तराय उपस्थित करता है, हजारों-नयनों से इस रूप को मात्र अपलक-अवलोकन का भाव, सुनहली चाँदनी-सा चारों तरफ प्रसारित दिव्य आभामण्डल में डूब जाने

को जी करता है। इस आभा में कुछ देर तक अजस्र स्नपित होना है तो कुछ पूछूँ; जिससे निरायास प्राप्त वचनों से यह श्रवण भी परितृप्त हों, दिव्यवचः रश्मियों से अज्ञानतमस् विगलित हो और तेजो मण्डल के पुण्य परमाणुओं का आस्वादन भी। याद आया वही क्षण जब मैं राजा महाबल था और ये तत्त्वज्ञ हितद्रष्टा स्वयंबुद्ध मन्त्री। पर अन्य तीन मंत्री भी थे, जिनसे स्वयंबुद्ध का खूब वादविवाद हुआ, अन्ततोगत्वा उन्हें हारना पड़ा उनके मन की कलुषता तत्क्षण साकार न हो पायी पर, उसका दुष्परिणाम क्या हुआ ? यही जानने की इच्छा है, श्री प्रभु के दिव्य वचन से। शीघ्र ही यह मनोभाव वचनों से प्रेषित हो गया और प्रस्फुटित हुआ करुणा का अनवरत स्रोत.....

विज्ञात हुआ तीनों मंत्रियों का कुमरण और उनकी दुर्गति, वहाँ के दुःखों का मर्मस्पर्शी वेदना वृत्तान्त। जब मालूम हुआ कि दो मंत्री आग्रह युक्त मिथ्या परिणामों से निगोद स्थान को प्राप्त हुए हैं, जहाँ प्रतिबोध की किरण भी कभी नहीं पहुँच सकती, किन्तु शतमति मंत्री मिथ्यात्व के कारण नरक गया है। जीव कल्याण को प्रेरित करता अनुकम्पा परिणाम बेचैन-सा करने लगा तो श्रीगुरु से पूछकर वह पवित्रबुद्धि श्रीधरदेव, शतमति नारकी को समझाने, धर्म का उपदेश देने और मिथ्यात्व का वमन कराने के लिए नरक द्वार पर पहुँचा। काललब्धि से प्रेरित हो, दुःखों की सघनता से उस नारकी ने प्राप्त उपदेश को निबिड़ अन्धकार में प्राप्त एक प्रकाश किरण की तरह अपने आंचल में समेट लिया और समीचीन रत्न को खोज लिया। इतना ही नहीं जब वह नरक की भयंकर महाकालिनी, असहनीय पीड़ा को भोगकर विदेह के चक्रवर्ती का जयसेन पुत्र हुआ तो श्रीधरदेव ने पुनः नरक का वह सम्बोधन और वेदना का ज्ञान कराया जिससे जयसेन भोगों से विरक्त हो, समाधिमरण कर ब्रह्मस्वर्ग में इन्द्रत्व को प्राप्त हुआ। इन्द्र होकर भी अपने कल्याण-कर्ता मित्र का स्मरण दिव्य अवधिज्ञान से हुआ तो वह उनके समीप आ वन्दन, पूजन करने लगा। **वस्तुतः दुनिया में अपने पर उपकार करने वाला ही गुरु है। भगवान् है चाहे वह पद, कद और वय में कितना ही लघु क्यों न हो?** श्रीधरदेव ने ब्रह्मेन्द्र से कहा; अरे! तुम इन्द्र होकर यह क्या कर रहे हो? तुम्हारा उच्च पद है, तुम्हारा वैभव तो हमसे बहुत ज्यादा है; इतना ही नहीं तुम्हारी विशुद्धि भी मुझसे

बहुत अधिक है और **भावों की विशुद्धता ही पूज्य अपूज्यपने का कारण होती है** इसलिए आपका यह सम्मान हमारे लिए....।

तभी बीच में बात को रोककर ब्रह्मेन्द्र ने कहा-नहीं पूज्यवर! वह वैभव, इन्द्रत्व तो सब उस सम्यग्दर्शन की शुभ देन है, जिस दर्शन को दिलाने आप नरकों के अन्धकार में भी मुझे ढूँढने आए थे, इतना ही नहीं आपने पुनः मनुष्य भव में मुझे सम्बोधा और मैं जयसेन फिर इसी संसार वृद्धि को करने वाले मंगल विवाह के उपक्रम में फँसने जा रहा था तभी आपने प्रबोधन दिया और मैंने उसी समय उस सम्मोहन पाश को हमेशा के लिए तोड़ने का निश्चय कर लिया और वन चला गया। वन जाकर मैं अपने लक्ष्य प्राप्ति में सफल रहा। मैंने महसूस किया कि वनिता, पुत्र परिवार की जंजीरों को तोड़े बिना कोई भी पुरुष गन्तव्य तक नहीं पहुँच सकता। व्यक्ति पहले दलदल में जान बूझकर फँसता है फिर निकलने के लिए छटपटाता है; उस समय उसका पुरुषार्थ विपरीत उसको उस दलदल में और डुबोते फँसाते जाता है। सच श्रीधर! इन बन्धनों से निस्तार बहुत कठिन कार्य है। तब श्रीधर बोले-नहीं इन्द्र! इन बन्धनों से घबराना नहीं। आपमें शक्ति थी इसलिए उस मंगल प्रसंग को आपने सहज नाकाम कर दिया, यह आपकी निकट भवितव्यता का सुफल था। लिप्साओं में विवश पुरुष या स्त्री इस विपरीत आकर्षण को छोड़ने में सक्षम, आकर्षण और द्वेष का प्रबल विकर्षण इस जीव को संसार समुद्र में थपेड़े मारमार कर उसे थकाता ही रहता है, इसलिए सम्यग्ज्ञान द्वारा ही विरले ज्ञाता इस बन्धन को तोड़कर मुक्ति पुरुषार्थ में सफलता पाते हैं। सच है; बिल्कुल सच! आपकी प्रज्ञा वास्तव में अद्भुत है। आपका ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है। इन भोग और भोगिनी के बीच आपका यह ज्ञान नेत्र अब सचमुच खुला हुआ है। इसलिए तो बार-बार आपके चरण छूने को मन करता है और मित्र! आपने जो पहले कहा कि तुम इन्द्र हो फिर भी मुझे इतना सम्मान, सो मित्र यह बड़प्पन तो अहंकार है और यह अहंकार एक पर्वत है जो बड़े-बड़े गुणों को भी देखने नहीं देता, बीच में आ खड़ा हो जाता है। अगर यह पर्वत आपके वात्सल्य से चूर-चूर नहीं होता तो मुझे जीने का आनन्द कैसे आता? कैसे आपकी दुर्लभ संगति पाता। सच में मित्र; जब आपकी इस असीम आत्मीय वात्सल्यता में

डूबता हूँ तो मेरी आँखों से हर्षाश्रु निकल पड़ते हैं और थोड़ी ही देर बाद में अपने अन्तःकरण को बहुत पवित्र और हल्का पाता हूँ। इस प्रकार मित्रों का परस्पर मिलन, केवली गुरु का समागम और अनेक नियोग प्राप्त वल्लभाओं के साथ श्रीधर देव का सागरोपम काल भी ओस की बूँद-सा, थोड़ी सी धूप में गल गया। अन्त में जब एक दिन श्रीधर की माला को कुछ म्लान देखकर ब्रह्मेन्द्र ने दुःख व्यक्त किया तो श्रीधर ने कहा मित्र! आपके लिए यह उचित नहीं यह तो निश्चित प्रसङ्ग है और जब निश्चित ही है तो उसमें हर्ष-विषाद करना मोह का कुफल है। पुनः आप मोह न करके वस्तु परिणमन में सतत् जागृत हों, हर परिणति को देखने का और जानने का ही पुरुषार्थ करो ताकि पिछला पुरुषार्थ समीचीन बढ़ता जाये और कुछ दिनों बाद वह क्षणभंगुर पर्याय, लहर की भाँति ऊपर से चलकर नीचे मर्त्यलोक को प्राप्त कर अन्य पर्याय में बदल जाये।

❑❑❑

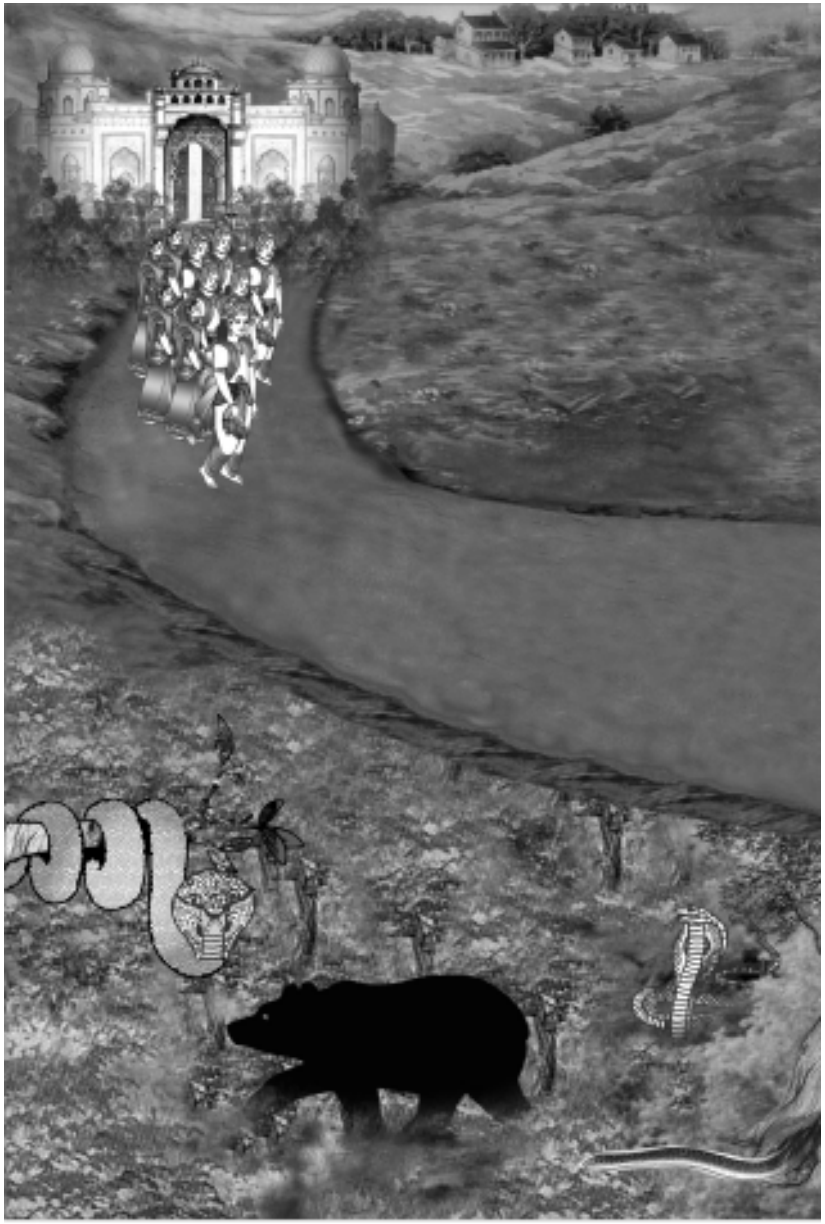

कुमार सुविधि वन क्रीड़ा को जाते हुए।

7. पहली-पहली बार

परिवर्तन शील संसार में वह सम्यक् विजेता फिर इस पृथ्वी पर आया। अब तो सीमित शृंखलायें ही तोड़ना है। अवतार हुआ है उस आत्म विजेता का इस भूखण्ड पर प्रथम बार। पञ्चमगति को प्राप्त करने के लिए ही मानो यह **पाँचवाँ** संसार रह गया था। इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र का प्रथम तीर्थप्रवर्तक बनना है शायद इसीलिए वह परकल्याण की सीमायें इसी द्वीप से बाँधे हुए हैं। अब अवतरित हुए हैं पूर्व विदेहक्षेत्र के महावत्स देश के सुसीमा नगर में राजा सुदृष्ट की सुन्दर नन्दारानी से, सु अर्थात् अच्छे, विधि अर्थात् भाग्य वाला सुविधि पुत्र हुआ। वह सुविधि बाल्यावस्था से ही गम्भीर प्रकृति का था। अत्यधिक कुशाग्र बुद्धि वाला होने से वह अपने पिता और गुरुजनों को अत्यन्त प्रिय था। माता की आँखों का एक मात्र तारा, कभी माँ से दूर जाकर खेलने चला जाता तो माँ व्याकुल हो घबड़ाने लगती और खेल से बुलाकर अपनी गोद में खिलाती। वह माँ पर नाराज होता था, कि तुम मुझे मित्रों के साथ खेलने नहीं देती, तो माँ कहती तुझे जितना मित्रों का ख्याल रहता है, उससे थोड़ा कम ही सही मेरा भी तो ख्याल रखाकर; सच बताऊँ सुविधि, यदि तुम मेरे सामने ही खेला करो तो मैं तुम्हें कभी बीच में नहीं बुलाऊँगी। सुविधि अपने गुणों से बच्चे, वृद्ध सभी को प्रिय था। सौभाग्य वही है, जिससे व्यक्ति सबका प्रिय हो। जैसे-जैसे वह बड़ा हो रहा था, वैसे-वैसे उसे महसूस हो रहा था कि मैं अपने निकट आता जा रहा हूँ। बन्धन और बाधायें उसे कभी रुचते नहीं थे। संघर्षों से ही संघर्ष करना उसकी आदत थी। वह कभी घोड़े को लेकर अरण्य की सैर करता तो कभी समुद्र की लहरों को पकड़ने का उपालम्भ। एकाकी रहना उसे बचपन से ही प्रिय था, फिर भी मित्रों की जरुरत समझकर उनकी क्रीड़ा में शामिल होकर सबका चित्तरंजित करता। वीरान वनों में उसे जो सुख प्रतिभासित होता वह महलों की ऊँची-ऊँची अट्टालिकाओं में भी नहीं पाता तभी तो वह जब भी माँ को किसी कार्य में व्यस्त देखता, तो श्वेत अश्व

की सवारी ही सूझती और घोड़े को दौड़ा-दौड़ा कर वह गगन में ही उड़ जाना चाहता था या फिर इस दुनिया से दूर-बहुत दूर, जहाँ मैं मात्र अपने को अपना ही पाऊँ। पर, परिवार की मोह शृंखलायें उसे मजबूर करती। अब वह बड़ा हो गया, माँ की गोद में से उछल जाता है, अब माँ का प्यार उसे बाँध नहीं पाता। माँ सोच रही हैं, अब इसे बन्धन में रखना इससे दूर जाना है। जितना स्नेह अभी मुझे इससे है, उस स्नेह की यह उम्र ही अन्तिम अवस्था है अब इसे प्रेम चाहिए प्रकृति का, तभी तो यह बार-बार वीरान अटवी की ओर दौड़ता है। भोला है, समझता नहीं उसे क्या जरूरत है, वह जरूरत तो मैं ही समझ सकती हूँ। उन जंगलों में उसे क्या मिलेगा गहरा दर्द ही ना। वह दर्द और बढ़े इससे पहले उसका निदान अतिआवश्यक है। आज यही माँ का समसामयिक कर्त्तव्य है, सही स्नेह है। पर आज यह रवि अपनी रश्मिओं को समेटने लगा, धीरे-धीरे गगन की नीलिमा लालियाँ बनने वाली है और सुविधि आया नहीं, लगता है कहीं दूर चला गया, जिन्दगी से भागना चाहता है, यही तो उसका बालपन है। थोड़ी ही देर में दूर से देखा तो दिख रहा है कि आकाश लगातार एक ही मार्ग में धूल धूसरित हो रहा है, कोई नहीं दिख रहा है। विश्वास है, वह पक्षी वापस नीड़ में आ रहा है, धीरे-धीरे टॉप-टॉप की आवाज भी सुनाई देने लगी। शनैः शनैः श्वेत अश्व भी दिखा और वह स्वर्ण से तप्त दैदीप्यमान देह इस संध्या की लालिमा में अहो अग्निपिण्ड सी दिख रही है। इस अत्यन्त वेग में उसके सिर का बाल मुकुट कहाँ गया? मात्र कुन्तल केशों का उठान ऐसा लगता है मानो समुद्र में मगरमच्छों का समूह ऊपर उठकर फिर उसी में डूब जाता है। निडरता के पथ पर दौड़ता हुआ मानो मृत्यु का भय और आशाओं की धूलि को पीछे छोड़ता हुआ निराबाध बढ़ रहा है। माँ यह सब सोचती रही कि पीछे से आकर माँ-माँ चिल्लाता हुआ वह उस झरोखे पे माँ को खड़ी देख बोला अरे! माँ क्या देख रही हो? देख रहीं हूँ पुत्र कि तू अब दिख नहीं रहा। क्या? क्या? मैं तेरे सामने तो खड़ा हूँ, वहाँ नहीं, इधर देखो इधर; और मुख को घुमाते हुए ये देख तेरा लाड़ला। अच्छा तो लाड़ले को अभी भी अपनी माँ की याद है। माँ आज तुम्हें क्या हो गया? कैसी बहकी-बहकी बातें कर रही हो? नहीं सुविधि, मैं नहीं, तुम बहके हो। तुम्हारे वक्षःस्थल पर कवच नहीं धूलि की पर्ते बिछ रही

हैं। तुम्हारी कुन्तल अलकायें यत्र-तत्र बिखरी हुई हैं, न राजकुमार के योग्य वेष है, न भूषा तुम जिस पथ पर रोजाना प्रकाश ढूँढ़ने निकलते हो उस पथ पर निरा-अन्धकार छाया है बेटा; बहकी मैं नहीं, तुम हो। बिल्कुल ठीक माँ, मैं हार गया तुम जीत गयी, अब जल्दी कुछ खिलाओ बहुत तेज भूख लगी है और देखो रात्रि होने वाली है माँ। हाँ-हाँ मैं जान रही हूँ कि तुझे जीतना मेरे तो क्या किसी के वश का नहीं। फिर मुझसे हारकर ही तो तुम जीतना चाहते हो क्योंकि माँ हूँ ना। माता, पिता और गुरुजनों से हार जाना ही जीत है; बेटा! मैं तेरी इस नीति को समझती हूँ। प्रसङ्ग को बदलना तो कोई तुझसे सीखे और हँसकर सुविधि के ललाट को अपनी वात्सल्य गोद में छुपा लिया।

सुविधि की माँ का भाई है अभयघोष। महाप्रतापी अप्रतिम पुण्यवान् सम्राट्। आयुधशाला में चक्ररत्न प्रकट हुआ। पुरोहितों से इस पुण्यप्रताप को समझ अभयघोष ने चक्ररत्न की पूजा की। कुछ ही दिनों में दिग्विजय के लिए प्रस्थान करना है, इससे पहले परिवार जनों से आशीर्वाद लेना भी सफलता की पहली सीढ़ी है इसलिए अभयघोष अपनी बहिन सुन्दरनन्दा से मिलने आया है। कौन किससे मिलता है यह तो भाग्य ही जाने। पर अभयघोष के आने का समाचार जान नन्दा अत्यन्त हर्षित हुई। माँ ने सुविधि को बताया कि तेरे मामा आ रहे हैं उनसे अच्छी बातें सीखना। सैन्य संचालन और राजा के कर्त्तव्यों को समझते हुए उनसे स्नेहिल व्यवहार करना है। माँ मैं अभी राजा नहीं युवराज हूँ। भविष्य की गोद में जिस फूल में गन्ध आयेगी, उसे अभी से छेड़छाड़ करना फूल को ही मिटा देना है माँ! **निर्बलता का अतिरेक ही भविष्य की चिन्ता को प्रेरित करता है। वर्तमान को वर्तमान ही महसूस करना सफलता का वर्धमान पाथेय है।** माँ! मेरे उज्ज्वल वर्तमान से तुम्हें भविष्य की चिन्ता करना मेरे पौरुष पर अविश्वास करना है। इस अपराजित ललाट पे क्या कभी पराजय की, भय की, उन्मनस्कता की लहरें आपने पायी ? यदि नहीं, तो ऐसी शिक्षा क्यों? नहीं माँ आज आपको लग रहा है कि मेरा भाई चक्रवर्ती हो गया इसलिए मैं इन आँखों में छोटा लगने लगा हूँ। पर माँ, चक्रवर्ती होकर भी वह मुझे जीत नहीं सकते। न चक्र से, न शस्त्र से और न अस्त्र से, मामा और भांजे का सम्बन्ध आत्मीय सम्बन्ध होता है। उनका चक्र इन चरणों में सदा स्तम्भित

रहेगा। आप हमें यह बतायें कि वह चक्रवर्ती बनकर यहाँ आ रहे हैं या आपका भाई बनकर।

उफ! उफ! सुविधि! तुम अपनी मेधा से छोटी से छोटी बात को भी कितना बड़ा बना देते हो, कितनी सम्भावनाओं में तुम चले जाते हो। मैं जानती हूँ कि तुम्हारी रक्तवाहिनियों में संचारित लहू बहुत गर्म है। पर, मेरे कहने का अभिप्राय ऐसा बिल्कुल नहीं था सुविधि! वह अपने भांजे को देखने आ रहे हैं, कि वह कितना बड़ा हो गया और कितना गम्भीर, कितना अपना है और कितना पराया। कितना शान्त है और कितना सुन्दर। कितना विनयान्वित और कितना नयान्वित ? बस करो माँ, बस करो अपने बेटे को इतना बढ़ा-चढ़ा कर न बताओ कि तुम उसका मस्तक भी न चूम सको और सुविधि मुस्कुराते हुए बाहर चला गया। आज माँ को एहसास हुआ कि सुविधि कितना गम्भीर और पराक्रमी है। माँ ने अपनी कोख को मन ही मन आशीष दिया कि तुम ऐसे ही बढ़ते जाओ, अपने स्वाभिमान को बढ़ाते जाओ और सदा इन अहंकृति के बन्धनों से मुक्त रहो।

चक्रवर्ती अभयघोष का आगमन हुआ। अपनी बहिन और भांजे को देख उसका चित्त अति निर्मल और प्रसन्न हुआ। सुविधि की अवस्था और पूर्ण यौवनता सभी के आकर्षण का एक प्रभावी केन्द्र बन गया था। चक्रवर्ती ने कहा बहिन, अब सुविधि को यथावय प्रेम की आवश्यकता है शायद इसीलिए उसका मन घर में नहीं लगता है और सदा एकान्त काननों में भ्रमण करता है। माता-पिता जब पुत्र के लिए उम्रानुसार सुख देने में सक्षम नहीं होते तो वे पुत्र के कोप का भाजन बन जाते हैं। साधु-श्रमणों का एकान्तवास ही लाभप्रद होता है गृहस्थों का नहीं। एक अविवाहित पुरुष का निर्द्वन्द्व विचरण समाज के लिए सोचनीय विषय होता है। जब तक बाल्यावस्था रहती है, माता-पिता, साथी जनों के प्रेम से जीवन बढ़ता है। कौमार्यावस्था में पठन-पाठन आदि विद्याएँ सीखने में काल सहायक हो जाता है, किन्तु इस युवावस्था में एक सहचरी की नितान्त आवश्यकता होती है। एकाकी जीवन उसे युवा बछड़े की तरह उन्मत्त कर देता है इसलिए बहिन समय की आवश्यकता को समझो। यथावसर जो कार्य एक छोटे से तृण से किया जा सकता है समय गुजरने पर फिर वह कार्य

बड़े-बड़े शस्त्रों से भी साधित नहीं होता। उसका द्वित्व से अनुभूत होना ही उसके मन के द्वन्द को दूर करने का एक मात्र कारण है। मन का यह विकल्प मिथ्या नहीं है किन्तु सामयिक है। भैया! आपका कहना पूरी तरह उचित है, मैं भी यही सोच रही थी पर उससे कहने में डर लगता था। आप ठीक अवसर पर पधारे और उचित सुझाव दिया पर इसकी वार्ता पहले आप जीजाजी से करो और फिर सुविधि से। चक्रवर्ती ने बहिन को आश्वासन दिया और राजा सुदृष्टि का ध्यान आकर्षित कर उनके मन को जान लिया। तदुपरान्त बहिन को लेकर चक्रवर्ती सुविधि के पास गए। माँ ने सुविधि से कहा बेटे! आज तुम्हारे मामा तुमसे कुछ कहने आये हैं। सुविधि ने प्रसङ्ग को जान लिया पर दूसरों को नाराज करना जब उसकी नियति में नहीं था तब अपनो को वह कैसे कर सकता था ? किन्तु अपनी बुद्धिमत्ता से बड़े-बड़े संघर्षों में खेलने वाला वीर इस छोटी-सी अपने जीवन की समस्या में कैसे उलझ सकता था? तभी सुविधि ने उत्तर दिया माँ, क्यों हमेशा व्यक्ति की स्वतन्त्रता को बाँधने का निर्मम प्रयास सदा से किया जाता रहा है। हम दूसरों के जीवन को भी वैसा ही बनाना चाहते हैं, जैसे हम स्वयं जीते हैं, चाहे वह उस जीवन की स्वीकृति से खुश रहे या न रहे। अरे पुत्र! मामाजी ने अभी कुछ कहा नहीं और तुम क्या कहने लगे? बेटे पहले मामा की बात तो सुनो। यह सुनना और सुनाना, समझना और समझाना यह हमारे मन के विकल्प हैं, माँ इनसे कुछ भी कार्य की सिद्धि नहीं होती। इस रहस्य को तुम जानती हो फिर भी कुछ कहना चाहो तो सुनाओ मैं तैयार हूँ। सुविधि! मैं आपका मामा हूँ ना, मैं अपने भांजे को किन्हीं कल्पनाओं में उड़ता देखूँ और अशान्त देखूँ, यह मुझे कैसे सहन हो सकता है? मैं चक्रवर्ती हूँ, दुनिया की कोई ऐसी वस्तु नहीं जो आपके लिए मैं न ला सकूँ। तुम्हें इस संसार में कोई भी वस्तु अच्छी लगे वह मुझे बताओ मैं हमेशा के लिए उसे आपके साथ बाँध दूँगा। सुविधि ने मुस्कुराते हुए कहा मामा क्यों आप अपना कीमती समय बर्बाद कर रहे हैं, आपको दिग्विजय पर जाना है ना। अपने आवश्यकों को छोड़कर दूसरे के आवश्यकों को पूरा करना कहाँ तक उचित है ? और फिर आपने उसी बंधन की बात की ना जिस बंधन से मैं सदियों से बंधा आया हूँ। नहीं! सुविधि यह बंधन नहीं, जीने का एक निर्बन्ध रास्ता है, जैसे आगम

की मर्यादा में बंधा श्रमण भी अपने को बंधन में नहीं किन्तु निर्बन्ध ही महसूस करता है उसी प्रकार स्त्री के बंधन में पुरुष को मुक्ति की पराकाष्ठा प्राप्त होती है। यह जीने का निराकुल साधन है। नहीं मामा! आपका यह श्रमणों का उदाहरण उदाहरणाभास है। श्रमण के लिए वह बंधन नहीं है, ज्ञान और मर्यादा के दो तट हैं, जिसके बीच में आत्मा का ज्ञानामृत निराबाध बहता है, वह बंधन नहीं है, बंधन तो दो में होता है, किन्तु आत्मा में एकत्व का मिलन एक में ही होता है। जहाँ बंधन होता है वह जीवन परतंत्र हो जाता है। स्त्री बंधन में स्वतंत्रता की नहीं परतंत्रता की श्वास होती है। सुविधि! जहाँ जीवन का आनन्द मिले वहाँ परतंत्रता की बात कहाँ? यह तो कहने को है। उस इन्द्रिय और मानसिक सुख में डूबकर ही तृप्ति का अनुभवन होता है, बंधन उन्मुक्त हो जाते हैं। जीवन में इस सुख से वंचित रहना आत्मवंचना होगी। मामाजी! यह अपनी-अपनी समझ है, जिसे आप सुख कहते हैं, उसे मैं सुख की अतृप्त वासना समझता हूँ, जिसे आप इन्द्रिय और मानसिक सुख मानते हैं, उसे मैं एक विपरीत अध्यवसाय मानता हूँ और जिसे आपने आत्मवंचना कहा वह एक महती प्रपञ्चना है। सृष्टि के विशालकाय भण्डार में द्रव्य अपनी सत्ता में ही हिलोरें ले रहा है, बन्धन बद्ध होते हुए भी आकाश के प्रत्येक प्रदेश पर प्रत्येक द्रव्य की सत्ता होते हुए भी कोई किसी से बाधित नहीं और न दूसरों को बाध्य कर रहा है। लगता है सुविधि! अभी तुम्हें समझाने का समय नहीं है क्योंकि तुम समय की उछलती कणिकाओं को पकड़ने का एक विफल प्रयास कर रहे हो। नहीं मामा जी! समय कहीं नहीं गया वह यहीं है, सदा-सदा से अपने पास। उसका विनाश त्रिकाल में कहीं भी सम्भव नहीं। पाँच द्रव्यों का वह अस्तिकाय ही समय है। आत्मा का प्रतिक्षण वर्तन ही समय है। पर से अस्पृष्ट और असंबद्ध अनुभूति ही समय है, उसको पकड़ना नहीं। पकड़ा तो उसे जाता है जो कहीं दूर जाने को हो। जिससे पुनर्मिलन की कोई गुंजाइश न हो, जिसकी पुनः प्राप्ति में भय हो या निराशा। मैं समय की उछलन में उछलना नहीं चाहता शायद इसीलिए उछलते हुए कण को पकड़ने का यह प्रयास आपको बेईमानी सा लगता है और मामाजी मैं सदा यह भावना रखता हूँ कि वह समय आये जब आपकी अतृप्त इच्छाएँ पूर्ण हों, बिना समझाये हुए मुझे सब स्वयं ही समझ में

आ जाये, आपको पुनः इसके लिए कोई प्रयास न करना पड़े। पर तब तक के लिए हमें धैर्य रखना होगा, उस स्वतंत्र परिणमन को अस्खलित दृष्टि से लखना होगा और तब मैं और आप दोनों ही निराकुल होंगे दोनों ही निष्काम होंगे और दोनों को प्राप्त होगी चरमभोग की असीम सीमा, जिससे परे न कोई सुख और सुख की सामग्री। कोई बात नहीं सुविधि! यदि आप अपने विचारों और कार्यों से सन्तुष्ट हैं तो मैं आपको जबरदस्ती मजबूर नहीं करूँगा। आपकी खुशी में ही मेरी खुशी है और आपकी तुष्टि में मेरी तुष्टता। बहिन को धैर्य बँधाते हुए और आश्वासन की किरणों को देकर वह चक्रवर्ती दिग्विजय के लिए प्रस्थान कर गए। पर इधर माता-पिता को गहरी बैचेनी और पीड़ा की कठिन आँधियां अन्दर ही अन्दर घुमड़-घुमड़ कर आहत करने लगी। दुःख की अप्रकट कुंठाएँ मन ही मन चिल्लाने लगीं। इस कुल का एक नक्षत्र आज उदय होने से पहले ही अस्त होने लगा। जिस पुष्प को मैंने अपने ही वीर्य और रक्त से सींचा आज वह महकना नहीं चाहता, खिलने और खुलने से इंकार करता है। जीवन की सारी शक्ति सारी आशाएँ निष्प्राण और निराशा में बदलने लगी। ऐसा लगता है, मानो जागृति की अजस्रधारा को किसी ने बाँध दिया और जीवन को जड़ और मूर्च्छित-सा बना दिया है। आज इस संचेतना को क्या हो गया? जिसकी प्रत्येक इच्छा को माँगने और कहने से पहले ही मैंने पूर्ण किया। निराशा की, भय की चिंगारी भी जिसके जीवन में नहीं आयी। सदा उसको उसी के निर्णय के लिए स्वतंत्र रखा, पर आज उसका निर्णय क्या हो गया है? अपने सुख में उसे माता-पिता के सुखों की कोई चिन्ता नहीं है। इसे स्वार्थ कहूँ या सम्यक् पुरुषार्थ मैं सोच नहीं पा रहा हूँ। द्वन्द्वों के इस विचरण में मन कब तक एकाकी विचरेगा। इस परिस्थिति की अन्तिम परिणति क्या होगी? इत्यादि मानसिक दुःखों से माता-पिता परेशान रहने लगे।

तभी समय ने करवट ली। चक्रवर्ती षट्खण्डों को जीतकर आ गए हैं। जीत की कार्यप्रणाली निर्बाध चल रही है और अभयघोष के आने के कुछ दिन बाद ही सुविधि के पिता सुदृष्टि का काल ने वरण किया। यह आकस्मिक घटना पूरे राज्य में खलबली मचा गयी। रोने चिल्लाने की आवाज से सारा राजमहल आपूरित है सबके ओठों पे एक ही बात, एक ही चर्चा, यह क्या हो

गया? कुछ भी कहो प्रभु ने यह अच्छा नहीं किया। अब इस कुल का दीप कैसे प्रकाशित होगा। बेटा विवाह नहीं करना चाहता, ना ही राज्यभार चाहता है, राजा की इकलौती संतान, किसी की भी समझ से परे है। माँ तो पहले ही परेशान थी, उस पर यह और बिजली आ गिरी। हे प्रभो! इन सबको तू ही आकर सान्त्वना दे। पुरवासियों की अनेक-अनेक धारणायें अलग-अलग ओठों से सामने आने लगी। कुछ दिनों बाद अभयघोष पुनः बहिन को देखने आये। बहिन का हाल देखकर वह बहुत दुःखी हुए, उन्होंने सुविधि के बारे में फिर वही चर्चा की तो बहिन ने कहा, वह किसी की नहीं सुनता। उसने पहले जो बातें की थी वही अब करेगा, उसे किसी की कोई चिन्ता नहीं, उसका निर्णय अटल होता है। फिर भी बहिन! अब इन हालातों में पुनः बात कर लें भगवान् की दया; शायद वह मान जाये आखिर वह भी एक इंसान है, उसे इतना कठोर मत समझो। मैं जानता हूँ कि वह बहुत स्वाभिमानी है शायद इसीलिए अब तक उसने अपनी तरफ से कुछ कहने में हिचकिचाहट की हो। भ्रात! आप यदि ऐसा समझते हो तो ठीक हैं। माँ रोती हुई भाई के साथ सुविधि के पास पहुँची, सुविधि ने देखते ही माँ की चरण वन्दना की और पूछा माँ आज आप यहाँ, मेरे पास, रोती हुई! माँ! मैं आपका दर्द समझता हूँ, पर माँ! कर्म के आगे हम सब विकलाङ्ग से रह जाते हैं। भाग्य की रेखा कब जीवन के कंचन गिलास को तोड़ दे, कहा नहीं जा सकता माँ।

बेटा! आज पहली बार तेरे मुँह से इतने लचीले वचन सुन रहीं हूँ। आज पहली बार तुझसे कर्म और भाग्य की बात सुन रही हूँ, तेरा भाग्य तो तेरे हाथों में था; आज यह कर्म की बात मुख पे कैसे आ गई? नहीं माँ नहीं! अपने बेटे को इतना कठोर मत समझो। तेरा पुत्र अनेकान्त को पहचानता है। भाग्य और पुरुषार्थ का विभाजन उसकी बुद्धि में समयोचित विभाजित है। अनेकान्त के अमृत प्याले में सबको जीवन-दान मिलता है। वहाँ भय, तृष्णा, अनहोनी, निराशा जैसी कोई चीज नहीं है, माँ। यदि यह बात है बेटा! तो फिर मैं दुःखी क्यों, मैं निराश क्यों? दुनिया में दीपावली है और राजमहल में अँधेरा। अब यह घर श्मसान-सा लगता है। यदि आज मैं फिर निराश लौटी तो बेटा! तुझे सदा के लिए अपराधी होना होगा। मेरी नजरों में ना सही तो अपने मामा की नजरों

में और इन पुरवासियों की नजरों में। तभी मामा ने सुविधि से कहा, आज समय आ गया है कि आप अपनी जिम्मेदारियों को समझें और माँ को दुःख से उबारें। सुविधि ने स्मित मुख से कहा मामाजी! मैंने आपसे कहा था ना जब समय आयेगा तब बिना प्रयास सब कुछ होगा। हम मात्र ज्ञाता-द्रष्टा बने रहें। आपका धैर्य अब फलीभूत होगा। मैं कभी भी निष्फल और निष्प्रयोजनीय पुरुषार्थ नहीं करना चाहता, आज मेरे पुरुषार्थ में प्रयोजनता है, लक्ष्य है और समय की आवश्यकता है इसलिए आप विश्वस्त रहें कि मैं मोक्ष पुरुषार्थ करने से पहले अब पूर्व के तीन पुरुषार्थ भी करूँगा और जीवन में समग्रता लाकर ही शिवाङ्गना को वरण करूँगा। माँ के चेहरे पर अद्‌भुत प्रसन्नता की लहरें उठी और तभी अभयघोष ने कहा सुविधि का प्रथम अधिकार मेरी बेटी मनोरमा पर है। मंगल परिणय सम्पन्न हुआ। चिरकाल तक मनोरम क्रीड़ा में आप्लावित होकर भी वह नित नवनूतन अनुभूति को ही पाता। काम पुरुषार्थ तभी पुरुषार्थ कहलाता है जब उसका प्रयोजन हो। प्रयोजन बिना किया गया पुरुषार्थ, पुरुषार्थ नहीं नपुंसकता है, वासना मात्र है। एक कुलदीपक की प्राप्ति हो जो स्वयं धर्मपथ पर अग्रसर हो और दूसरों को भी करे। इस भावना से किया गया पुरुषार्थ पाप नहीं धर्म है और इसी प्रयोजन से अर्जित किया अर्थ भी धर्मार्थ है, पापार्थ या कामार्थ नहीं। इसलिए गृहस्थों को ये तीन पुरुषार्थ धर्ममय बना देते हैं। गृहस्थ धर्म और मुनि धर्म इन दोनों धर्मों का उपदेश सदा से चला आ रहा है। कुछ ही दिनों बाद सुविधि को सम्यक् पुरुषार्थ की फलश्रुति हुई और वह श्रीमती का जीव सम्यग्दृष्टि होकर जो स्वयंप्रभ देव बना था, आज वह स्वर्ग से च्युत होकर मनोरमा के गर्भ में आ गया। यह है संसृति का खेल। पूर्वभव में जो पत्नि थी आज वह पुत्र बन गयी। पर्याय का परिणमन बदल गया और अन्तस् का मोह भी स्नेह में बदल गया। पुत्र प्राप्ति होने के बाद उसका नाम रखा गया केशव। सुविधि को इस बहिर्जगत् में यदि अत्यधिक स्नेह किसी से था तो वह था केशव। पूर्व जन्मों के संस्कारों का ही यह फल था, पर कम हो गया था तभी तो वह मोह न रहकर स्नेह में बदल गया। एक दिन राजा सुविधि, अभयघोष चक्रवर्ती के साथ विमलवाहन जिनेन्द्र की वन्दना करने गए। भक्ति वन्दना कर सभी ने धर्मोपदेश सुना और विरक्त होकर चक्रवर्ती अठारह हजार

राजा और पाँच हजार पुत्रों के साथ दीक्षित हुए। वे सब मुनि एक साथ बैठे हुए ऐसे शोभायमान हो रहे थे मानो एकत्रित हुए मुनि, गुणगण मुकुट ही हो। राजा सुविधि ने सभी मुनिगण के चरण कमलों की वन्दना की, भक्ति की और तभी अपने मनोभावों को पढ़ा। राजा सुविधि आत्मज्ञानी थे। आत्मज्ञान का अर्थ मात्र इतना ही नहीं कि आत्मा के गुणों का ज्ञान हो या आत्मा के अस्तित्व का। प्रत्युत आत्मज्ञान का अर्थ है आत्मभावों का सम्यक् निरीक्षण। वह आत्म भाव मोह की परिणतियों को भी ठीक-ठीक जानता है। शरीर बल का सम्यक् परिज्ञान भी आत्मज्ञान है। किसी भी परिस्थितियों में उतावली नहीं करना आत्मज्ञान है। अपनी शक्ति और वीर्य का सही प्रयोग सही दिशा में करना आत्मज्ञान है। अनेक-अनेक लोगों के मुनिपदस्थ होने पर भी आज वह सम्यग्ज्ञानी सोच रहा है कि इनका वर्तमान मेरा भी वर्तमान होगा। अनन्त भ्रमणों के परिचक्र में यह परिदृश्य कई बार देखा और दिखाया पर, अन्तरङ्ग के उस मोह शत्रु को शोषित नहीं किन्तु पोषित ही किया। अनेक बार इस पवित्र भेष को धारण करके भी पूर्णतः सफल नहीं हुआ। आज भी केशव के प्रति स्नेह का किंचित् विकल्प बाकी है। तोड़ूँगा इस बन्धन को भी, मूल से उखाड़ूँगा। अब इस जीवन का प्रतिक्षण किया गया पुरुषार्थ समीचीन होगा। दूसरों को लुभावने और लोभित होने से यह आत्मा अब अभिभूत नहीं होगा। सम्यग्ज्ञान के साथ बीतने वाला प्रतिक्षण मुक्ति की अवभासना है बन्धन की नहीं। आज मैं आत्मा में भरे हुए विनिगूहित वीर्य को प्रकट करूँगा। गृह सम्बन्धी किंचित् विकल्प भी मुनिपद में मुनित्व की अवमानना है। यह मुनित्व मात्र की अवमानना नहीं प्रत्युत पूर्व में हुए अनन्तानन्त जीवन्त आत्माओं की अवमानना है और पूज्य पुरुषों की अवमानना सबसे बड़ा पाप है, दुष्कृत्य है। ऐसी परिस्थिति में आज यह आत्म ज्ञाता मुनि नहीं बन सकता तो कोई बात नहीं पर इतना असमर्थ भी नहीं कि, कुछ भी नहीं कर सकता। यूँ तो सदाचार से जीवन अब तक बिताते आये हैं। पर आज मैं संकल्पित होता हूँ अपनी शक्ति को उद्घाटित करने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ होता हूँ और उत्कृष्ट मुनिधर्म नहीं किन्तु उत्कृष्ट गृहस्थधर्म को उतने ही आदर, विनय और भक्ति से ग्रहण करता हूँ जितने आदर से इन आत्माओं ने मुनि पद स्वीकारा है। इन अणुव्रतों का परिपालन यम रूप में होगा,

नियम रूप में नहीं।

हे विमलवाहन जिनेन्द्र! आज मैं आपकी साक्षी में संकल्प लेते हुए सभी मिथ्या वासनाओं को छोड़कर पञ्चमहागुरु की अनन्य शरण को प्राप्त होता हूँ।

संसार, शरीर और भोगों की निर्विण्णता पूर्वक दूसरी व्रत प्रतिमा को निरतिचार धारण करता हूँ और तीनों सन्ध्याओं में तीनों योगों की शुद्धिपूर्वक वन्दना करता हुआ, स्वरूप में सम अर्थात् सम्यक् रूप से एकमेक होकर अय अर्थात् गमन होगा। पर्व के चार दिनों में प्रत्येक मास में आरम्भ रहित हो चार भुक्ति के त्यागपूर्वक प्रोषधोपवास गुण का आजीवन यम लेता हूँ। अब कभी भी जिह्वा, रस लोलुपता में सचित्त फल शाक का सेवन नहीं करेगी। अब स्त्री को देखकर नवकोटि से दिवा में मैथुन का भाव उत्पन्न नहीं होगा। ज्ञाता-द्रष्टा आत्मस्वरूप में लीन रहता हुआ ब्रह्मचर्य की दुर्धर प्रतिमा धारण करता हूँ और रात्रि को इस मन में दु:स्वप्न की दुख-धारा भी दूर रहेगी। मैथुन निजचेतना में होगा परद्रव्य में नहीं। खेती, व्यापार आदि आरम्भ का कृत-कारित-अनुमोदन से त्याग करता हूँ। बाह्य दश परिग्रहों को त्यागकर अब अन्तरङ्ग परिग्रह को मिटाने को संकल्पित होता हूँ। गृह सम्बन्धी कार्यों में अनुमति का मोचन और मुनिजनों के निकट रहकर उत्कृष्ट तपश्चरण करता हुआ सदा उद्दिष्ट भोजन से विरत होता हूँ। इस प्रकार अनुक्रम से ग्यारह प्रतिमा का संकल्प ले, अभ्यन्तर प्रयोजन को साधते हुए सुविधि महाराज अलौकिक आनन्द में रमण करने लगे। जैसे-जैसे साधना में रुचि बढ़ती गयी बाहरी सब रागद्वेष-जन्य संकल्प-विकल्प दूर होते गए और आत्मर्द्धि स्फुरायमान होने लगी। प्रत्याख्यान कषाय के अत्यन्त दुर्बल हो जाने से संयमासंयम गुणस्थान की उत्कृष्ट लब्धि स्थानों को प्राप्त किया और विशुद्ध-विशुद्धतर भावों से पुत्र के किंचित् स्नेह को छोड़कर अन्त समय में राजर्षि सुविधि ने सर्वपरिग्रह रहित हो दिगम्बर दीक्षा को धारण किया। चार प्रकार की आराधनाओं में लीन रहते हुए नश्वर देह का परित्याग कर समाधिमरण सम्पन्न किया और प्राप्त की वह अन्तिम सीमा, जिससे आगे संयमासंयमी का गमन नहीं होता अर्थात् शुक्ललेश्या के भावों को धारण करने वाला अच्युत स्वर्ग का देव हुआ किन्तु साधारण देव नहीं; प्रमुख

इन्द्र, अच्युतेन्द्र। निर्ग्रन्थपद जो धारण किया था। समता का भाव ही सहिष्णु बनाता हुआ मित्र-शत्रु, कंचन-काँच, सुख-दु:ख में हर्ष-विषाद की रेखा से बचाता है। यह मनोबल का ही प्रभावी फल है। निरतिचार व्रतों का सम्यग्दर्शन की विशुद्धता से पालन करने वाला ही इन्द्र पदवी पर प्रतिष्ठित होता है। कामना नहीं की ऐन्द्रत्व की, किन्तु साधना का पुरस्कार है यह मान-सम्मान। आज आत्मजेता को इस पुरस्कार से सन्तोष नहीं है, क्योंकि यह उसका लक्ष्य नहीं है। पर उत्कृष्ट कर्मफल का उपभोग भी अनासक्त भाव से सम्यग्द्रष्टा के मार्ग में बाधा नहीं किन्तु सम्यक् गति प्रदान कर रहा है। आज उसे प्रसन्नता है कि संयम गुणस्थान की परीक्षा में वह सर्वश्रेष्ठता से उत्तीर्ण हुआ है।

❑❑❑

मुनि दीक्षा उपरान्त महाराजा सुविधि

8. सर्वोत्कृष्ट भोग का पुजारी

वैभाविक आत्म पर्याय विलीन हो रही है, स्वभाव से ओतप्रोत आत्म पर्यायें प्रादुर्भूत हो रही हैं। इस संसार की एक और पर्याय छूट गयी, कहीं दूर-बहुत दूर इसी संसार समुद्र में और अब शेष है चतुर्गति रूपी महासंसार समुद्र की मात्र चार भौतिक परिणतियाँ। इस **चतुर्थ संसार** की परिणति प्रारम्भ हुई, वहाँ जो चित्रा पृथ्वी से छह राजू ऊँचा है। मेरु की चूलिका से उत्तरकुरुवर्ती मनुष्य के एक बाल मात्र अन्तर से प्रथम इन्द्रक विमान स्थित है। यहीं से वैमानिक देवों का प्रारम्भ होता है। एक-एक इन्द्रक से असंख्यात योजन अन्तराल को लेकर ऊपर-ऊपर के इन्द्रक विमान अवस्थित हैं। मध्य में होने से इसे इन्द्रक विमान कहते हैं और यत्र-तत्र जो बिखरे पड़े हैं, वे प्रकीर्णक विमान कहलाते हैं। कुल त्रेसठ इन्द्रक विमानों में से सुविधि का जीव बावनवें अच्युत इन्द्रक में उत्पन्न हुआ। अच्युतकल्प के ये विमान न जल के ऊपर स्थित हैं और न पवन के आश्रित किन्तु शुद्ध आकाश तल पर प्रतिष्ठित हैं। जैसे ही सुविधि का जीव उपपाद शय्या पर जन्म लिया तो वहाँ के अनुद्घाटित कपाट खुल गए। मात्र एक अन्तर्मुहूर्त में परिपूर्ण युवा देव होकर अद्‌भुत वातावरण को देखकर एक क्षण के लिए कुछ विस्मित हुआ, तभी संप्राप्त अवधिज्ञान से पूर्व जन्म का स्मरण किया और ज्ञात हुआ अहो! धन्य है यह जिनेन्द्र प्रणीत धर्म; जिसके अनुपालन से आज यह वैभव मिला है। सर्वप्रथम अब मुझे जिनेन्द्रदेव के अलौकिक अकृत्रिम बिम्बों का दर्शन करना है, पूजा करनी है, इन्हीं भावों से वह देवद्रह में स्नानकर दिव्य अभिषेक मण्डप पर अन्य देव-देवियों के द्वारा अभिषिक्त हुए। भूषण-शाला में प्रविष्ट हो दिव्य उत्तम रत्नों को लेकर हर्ष से वेशभूषा ग्रहण की। तत्पश्चात् अपने परिवार देव और देवियों के साथ पूजा के योग्य दिव्य द्रव्य को ग्रहण कर अतिशय भक्ति से युक्त हो छत्र, चँवर, ध्वजाओं से शोभायमान जिनभवन में प्रविष्ट हुए और विस्मयकारी जिनबिम्बों को देखकर जय-जय के उत्तम शब्दों से सारा दिग्मण्डल आपूरित

कर दिया। पश्चात् हर्षाश्रु युक्त अनिमेष नेत्रों से जिनबिम्बों की स्तुति करते हुए, अभिषेक, पूजन आदि करता हुए अत्यन्त संतोष को प्राप्त हुए। सुविधि बनाम अच्युतेन्द्र सदा कर्मक्षय के लिए, मुक्ति की प्राप्ति के लिए विचित्र शैलियों से नाना रसों और भावों से युक्त होकर जिनेन्द्रदेव की परिवार सहित पूजा करते हुए भी मूल शरीर तो जन्म स्थान पर रहता और उत्तर शरीर नाना विक्रियाओं से युक्त हो देवाङ्गनाओं के मन को हरण करता था। वैसे तो अच्युतेन्द्र मात्र मनः जन्य प्रवीचार से युक्त होते हैं, पर वह इन्द्र उन देवियों के कोमल हाथों के स्पर्श से, मुख कमल को देखने से, स्पर्श और रूप प्रवीचार भी करता था। अनेक लीलाओं से युक्त मधुर शब्द गाती हुई राग-रागनियों से शब्द प्रवीचार भी करते हुए देव-देवियाँ एक दूसरे के मन को रञ्जित और सन्तुष्ट करती हुई कालयापन करती थी। इस प्रकार बाईस सागर प्रमाण आयु को आनन्द क्रीड़ा से सुखपूर्वक व्यतीत कर दिया। महापुरुषों की संगति ही महान् फलदायी होती है, यदि उनके आचरण का अनुसरण भी किया जाय तो फिर कहना ही क्या? वह श्रीमति का जीव जो स्त्री पर्याय में था, इस महापुरुष के साथ ही सम्यग्दर्शन ग्रहण करके स्त्रीलिङ्ग का छेदकर तत्पश्चात् इसी आत्मा का पुत्र बना और सुविधि के समाधिमरण पश्चात् उस केशव पुत्र ने भी पिता के पद-चिह्नों पे चलकर समस्त बाह्य और अन्तरङ्ग आडम्बर त्याग कर निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण की। फलश्रुति अच्युत स्वर्ग में अपने पिता इन्द्र के साथ प्रतीन्द्र पद पर शोभायमान हुआ। उस अच्युत स्वर्ग में सभी देव अपने-अपने पुण्य से प्राप्त विभूति से सन्तुष्ट रहते हैं। सौधर्म इन्द्र की महाविभूति को देखकर भी मन में ईर्ष्या नहीं, म्लानता नहीं, वस्तुतः यहाँ शुक्ललेश्या से प्राप्त सन्तोष ही यथार्थ सुख है। इन्द्र ने और प्रतीन्द्र ने परस्पर यह जान लिया कि हम दोनों का यह स्वर्ग में अपूर्व संयोग भी पूर्व जन्म की छाया है। प्रतीन्द्र का इन्द्र से अनुराग और बढ़ जाता है, जब वह सोचता है कि मेरा राग एक महान् आत्मा से है, जिनके पद चिह्नों पर चलते-चलते मैं भी मुक्ति वधु का मुख देखूँगा। जब उसे पूर्व जन्म की तपस्या का स्मरण हो आता है तो सोचता है कि देखो! निरतिचार चारित्र का यह सुफल अत्याज्य है। जो लोग जिनलिङ्ग को धारण करके भी उसकी महत्ता से अनभिज्ञ हो यद्‌वा-तद्‌वा प्रवर्तन करते हैं, उन्हें देवगति में भी

कष्ट सहना पड़ता है। बिना सम्यग्दर्शन के लिङ्ग मात्र धारण करके तप तपने वाले भी इस महती पदवी को प्राप्त नहीं कर सकते हैं।

दूसरे ही क्षण स्मरण हो आता है अरे! हम भी कहाँ आकर अटक गए! निश्चित ही मेरे मोक्ष पुरुषार्थ में कुछ कमी थी, अन्यथा मोक्षपुर की जगह ये विलास-पुर कहाँ से आ जाते? अभी भी प्रतिपल जागृति की महती आवश्यकता है। इन वैभवों की चकाचौंध में भी ज्ञान की अजस्र धारा का अनुस्यूत रहना ही परम पुरुषार्थ है। इन देवियों की नियोग प्राप्त कमनीयता में मन का रमण और भ्रमण भी पर्यायगत स्वाभाविकता बन गयी है। सम्यक् विज्ञता होने पर भी यह मोह की धारा भी अविरल बह रही है। जिस रूप में मैं स्त्रीत्व को देखना नहीं चाहता फिर भी उसमें वही वनिता विलास लखता हूँ और उसे भी स्मित मुख से वही सुख देखना पड़ता है, जिस सुख को मैं उससे प्राप्त करता हूँ। हे आत्मन्! तुम पुरुष हो, दूसरों में भी वही पुरुषत्व और पौरुषता का दर्श करो। आज यह पुरुषार्थ कितना वैभाविक हो गया और कितना सुखद। पुद्गल के बने पिण्ड में तदनुरूप उपयोग का प्रवाह, वाह रे! मोह की शक्ति, अहो! इस पुद्गल पिण्ड में यह मोह उपजावने की शक्ति स्वतः नहीं, मेरे ही कुपुरुषार्थ का विपरीत परिणाम है। भोगो-भोगो इसको पर और मत जोड़ो, निकल जाने दो यह कर्म का विपाक, निकल जाने दो इसका शक्ति रस, अब खाली होना है। पर यह सब तो वैचारिक परिणति है वस्तुतः कर्म रज का लेपन जारी है, मोह का प्रभाव भारी है, बस अब मनुष्य जन्म की बारी है किन्तु काल की बलिहारी है कि निश्चित अवधि तक यह वैक्रियिक शरीर विकार ग्रस्त ही रखेगा, स्वभाव की स्वीकारता का समय कहाँ? परतन्त्रता का यह समीचीन परिणाम ही पराधीनता का सम्यक् बोध दिला कुछ सुख दिला जाता है। इन अनन्त ऊहापोह की सरिता में समय की अनवरत गति जारी है और सागर से मिलन हो, उससे पूर्व पुनः मिला इक नव जीवन जो एक नया पुरुषार्थ और अभिनव प्रवाह से ले जाएगा सागर की ओर.....।

❑❑❑

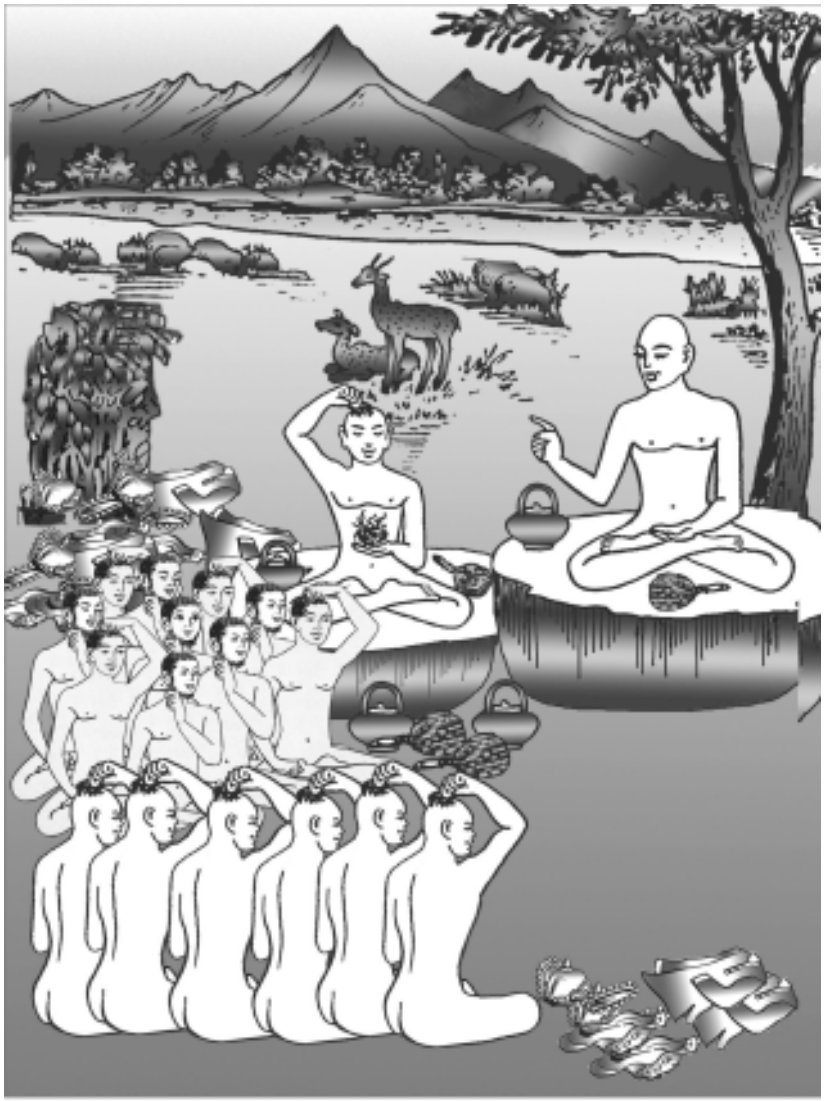

आत्मकल्याण में निहित विश्व का कल्याण

9. विश्व कल्याण का संकल्प

पुनः इसी जम्बूद्वीप के पूर्व विदेहक्षेत्र में पुष्कलावती देश की पुण्डरीकिणी नगरी में वह अच्युतेन्द्र का जीव अवतरित हुआ जिसका यह द्विचरम मनुष्य भव है। राजा वज्रसेन और रानी श्रीकान्ता का वह ललित-समर्थ पुत्र हुआ। वज्र के समान अभेद्य नाभि वाला वह पुत्र वज्रनाभि नाम से जगत् में विख्यात हुआ। जैसे-जैसे सूर्य उदित होकर बढ़ता है तो उसका प्रकाश और ताप भी बढ़ता जाता है, उसी प्रकार वज्रनाभि का यश, प्रकाश और पराक्रम धीरे-धीरे बढ़ रहा था। शिशु अवस्था से ही लोगों को ललित क्रीड़ाओं द्वारा आकर्षित करके उनके मन को चुराने वाला, सदा विकसित कमल के समान प्रसन्न-आननपुर, लोगों के नेत्रों का क्रीड़ा केन्द्र था। अनेक शुभ व्यञ्जनों से लाञ्छित शरीर उसके महाभाग्य का बखान कर रहा था। नाभि के मध्य अत्यन्त स्पष्ट वज्र चिह्न आगामीकाल के चक्रवर्तित्व का ही द्योतक था। वज्र के अस्थि कीलिकों से संघटित शरीर विन्यास विधाता की रचना को बधाई दे रहा था। उचित माप और आकृति से प्रत्येक अङ्ग ऐसा सुघटित था कि उसकी मनोरमता को देखकर देवाङ्गनायें भी लजा जाती थीं। यौवन का प्रारम्भ हो, इससे पहले ही उस आत्मजेता ने सबसे पहले उन प्रकोपों पर नियन्त्रण रखा था जो वय योग्य थे किन्तु उनके फल अनुचित थे। आगामीकाल में घटित होने वाली संभावनाओं में भावित न होकर वह कार्य को विचार बुद्धि से पहले निर्णीत करता तदुपरान्त कार्यान्वित। अपनी अप्रतिम प्रतिभा से वह समवयस्क अन्य अनेक भाइयों के बीच चन्द्र-सा सुशोभित होता था। समीचीन पुरुषार्थ के प्रति निष्ठा और मेहनत से कार्य को प्रारम्भ कर समाप्त करना उसकी कर्मठता की पैठ थी। प्रारम्भ किया हुआ कार्य किसी भी परिस्थिति में अधूरा रहे यह वज्रनाभि की नियति के विरुद्ध था। महान् राजा के योग्य गुणों का सहज ही प्रादुर्भाव देखकर राजा वज्रसेन ने अपनी राज्यलक्ष्मी राज्य महोत्सव के साथ उसे सौंप दी। राजसिंहासन पर आसीन और परिकर के राजा योग्य वैभव के

मध्य में वह इन्द्र-सा प्रतीत होता था। गम्भीरता और कौतूहल दोनों विपरीत गुण भी वज्रनाभि में एक साथ प्रद्योतित होते थे पर अलग-अलग व्यक्तियों के साथ। प्रजा के लिए वह परमपिता के समान आत्मीय भावों से जुड़ा था। प्रजा का पालन करना और अन्याय से रक्षा करना आद्य कर्त्तव्य बन गया था, तभी तो उसके राज्य में कोई भी प्रजाजन व्यसन को याद नहीं करता था। यदि किसी को कोई व्यसन था तो शास्त्र, संगीत, नृत्य, कला आदि शिष्ट क्रियाओं का। राज्यलक्ष्मी का एकमात्र निवास था राजा वज्रनाभि। अपने पिता और मातृ करों का, हृदय से आशीष प्राप्त करता हुआ प्रभूत वृद्धि को प्राप्त हो रहा था एवं अन्य गुरुजनों की हृदय प्रसन्नता से ही उसका भाग्य दिनों दिन बढ़ रहा था। तभी अपने पुत्र के निष्कण्टक राज्यभार को देख राजा वज्रसेन ने आत्मकल्याण की ओर अपना ध्यान लगाया। उनके विचारों से सन्तुष्ट लौकान्तिक देव उनकी सराहना करने लगे। महाराज वज्रसेन तीर्थङ्करत्व को प्रकट करने वाले थे। उनकी विरक्ति से ही अन्य देव गण भी उनके चरणों में आकर रहने लगे। पहले भी जिनके चरण देवों से पूजित थे और दीक्षा पश्चात् भी, ऐसे राजा वज्रसेन तपोलक्ष्मी से अलंकृत हो पृथ्वीतल पर रहने लगे। दुःखी क्लिष्ट जीवों के उद्धार की भावना से पहले आत्म उद्धार को करना चाहते थे क्योंकि **स्वकल्याण के संकल्प बिना पर कल्याण का सपना, सपना ही रहता है, उन्हें यह अच्छी तरह ज्ञात था। जो कार्य उपदेश और आत्मीयता से नहीं होता वह कार्य स्वयं के पूर्ण होने से स्वतः हो जाता है,** इसीलिए वह आत्मविजेता के रूप में आत्मशत्रु को जीत रहे थे। उधर वज्रनाभि, राज्य में राज्यसीमा के बाहर के शत्रुओं को जीत रहे थे। पिता अन्तिम मुनि आश्रम में स्थित थे तो पुत्र राज्याश्रम में। पिता मूलगुणों और उत्तरगुणों का अनुपालन करते हुए अपनी चित्शक्ति को प्रकट कर रहे थे तो राजा वज्रनाभि राजगुणों से अलंकृत हो अपनी राजसत्ता को मजबूत कर रहे थे। पिता वज्रसेन यदि मंत्रों के उच्चारण से आगत कर्मों का रस अल्प कर रहे थे तो पुत्र वज्रनाभि अपने मंत्रियों की सहायता से आगत शत्रु की शक्ति को कम कर रहे थे। महाराजा वज्रसेन अपने प्रशम भावों की प्रकर्षता से अनेक ऋद्धियों को प्राप्त हुए थे तो राजा वज्रनाभि भी सैन्य संचालन से राजकोष की वृद्धि को प्राप्त हुए थे। महाराजा वज्रसेन के

पास अत्यन्त क्रूर और रौद्र पशु भी शान्त भाव से बैठते थे तो राजा वज्रनाभि के समक्ष भी अत्यन्त दुर्जय राजा स्वयमेव समर्पित हो जाते थे। महाराज वज्रसेन की उत्कट तपस्या से शिवलक्ष्मी प्रसन्न हो रही थी तो राजा वज्रनाभि की शौर्यता से विजय लक्ष्मी प्रसन्न हो रही थी। महाराज वज्रसेन का शरीर तपो योग्य था तो राजा वज्रनाभि का राज्य योग्य। उचित काल में उचित कार्य करना ही दोनों की सफलता का एकमात्र रहस्य था। पिता का महाराजत्व और पुत्र का राज्यत्व एक अनुपम संयोग था। जब महाराज वज्रसेन ने कर्मों के अत्यन्त क्षय के लिए शुक्लध्यान चक्र को प्रकट किया तो राजा वज्रनाभि की आयुध शाला में चक्ररत्न प्रकट हुआ। ऐसा लग रहा था मानो एक आत्म-जेता बनता जा रहा है और दूसरा विश्व विजेता। राजा वज्रनाभि चक्ररत्न से षट्खण्डों पर विजय पाने को उद्यत हुए तो महाराज वज्रसेन अष्टकर्मों पर। राजा वज्रनाभि विजयार्ध श्रेणी पर पहुँचे तो महाराजा क्षपक श्रेणी पर। राजा ने विजयार्ध की गुफाओं के कपाट भेद दिए तो महाराज ने कर्मों की स्थिति को भेद दिया। गुफा में रत्न से प्रकाश हुआ तो देह गुफा में चैतन्यता से प्रकाश हुआ। गुफा से निकलने वाली गर्मी ने योजनों तक क्षेत्रव्याप्त कर लिया तो ध्यान की गर्मी शरीरस्थ निगोदिया जीवों को समाप्त करती जा रही थी। राजा ने जब पर्वत पर अपनी जीत अंकित की तो महाराजा ने क्षायिक भावों से मोह पर जीत अंकित की। राजा की जीत का वह लेख अमिट नहीं था, किन्तु महाराज का लेख अमिट था। राजा जब षट्खण्ड जीतकर सहस्र रश्मियों से अलंकृत चक्ररत्न सहित वापस आये तो इधर महाराज भी ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय कर्मों को जीतकर धर्मचक्र के प्रवर्तक बनकर, भव्यों के बीच आये। जीत पुत्र की भी हुई और पिता की भी। अब पुत्र आत्मविजय का पाठ सीखने एक दिन पिता के चरणों की वन्दना को चला। छत्र, चँवर, वाद्यों, गन्धकुटी से सुशोभित, देवकृत अतिशयों सहित, लक्ष-लक्ष आत्माओं के द्वारा वन्दनीय, प्रशान्त रूप पर, अद्भुत तेजः कलाप और चातक से मेघ ध्वनि सुनने को आतुर एक साथ असंख्य दृष्टियों का अनिमेष नयनों पर दृष्टिपात, मुकुलित कमल से कर द्वन्दों में समर्पण के सुगन्धित पुष्प और भक्ति से सहज प्रणत उत्तमांगों से निकलती किरीट किरणों से आलोकित भक्ति जगत् की सीमायें देखकर राजा वज्रनाभि

अद्भुत लोक में विचर गए मानो उस सिद्धलोक में केवलि प्रभु वज्रसेन का जाना तो बाद में होगा और वज्रनाभि को अपना अस्तित्व उस भू भाग पर आज ही दिखने लगा। अहो! आज शरण मिली शरण्य की, यह जगत् तो पञ्चेन्द्रियों का अरण्य है, जहाँ काम, लोभ, अहंकार के वन्य पशु शार्दूल से आक्रामित हो आत्मशक्ति का घात करते रहते हैं। अहो! मैं खोज रहा था विलासता में सुख प्रकाशता। अहो! मैंने जीता षट्खण्डों को और सोचा कि विश्व जीता। अहो! मैंने प्रजा को पाला या अपने अहंकार को। मैंने अब तक कुछ प्राप्त किया या सब कुछ खो दिया। मेरा निवास इस लोक में है या उस लोकान्त में। आज मैं सब कुछ जीतकर भी अपने को पा रहा हूँ आपके समक्ष सर्वहारा। मैं इस वसुन्धरा को जीत कर भी सन्तुष्ट नहीं और आप स्वयं में हैं पूर्णतृप्त। जिसने जगत् को जीता वह भी आज आपके चरणों में खड़ा है। हे चेतना के अगम्य स्रोत पूर्ण विज्ञाता! आपने मुझसे कहीं छल तो नहीं किया? मुझे राज्य सिंहासन पर बैठाकर स्वयं धर्म सिंहासन पर विराजमान हो गए? या फिर यह आवश्यक घटक है जो कि आपने किया और वही मुझे करना है। इस जगत् को जीतकर इसमें कोई सार न दिखे तब वह अन्तरङ्ग जगत् को जीतने के लिए निकलता है, क्या यही आप मौन पाठ हमें पढ़ाना चाहते थे? कुछ भी हो प्रभो! **अब निस्तरण हो ? संसृति के इस शैवालमय दलदल से।** चिरकाल तक पृथ्वी पर फैली असीम सामग्री को भोग उपभोग कर आज पुनः वैराग्य की ज्वाला अन्तस् में धधकने लगी। श्री वज्रसेन तीर्थङ्कर ने सकरुण हो दिव्यध्वनि की शीतल लहरों से स्नपित करके, वज्रनाभि के ताप को दूर कर दिया। जीर्ण तृण के समान निःसार इस वसुन्धरा के वैभव को जान वज्रनाभि विषय रस से रहित हो गए। वज्रनाभि ने क्षणभंगुर विषयों को क्षण भर में ही छोड़ दिया। जब यह निश्चित हो गया कि इन्द्रिय सुख क्षणभंगुर है तो एक आत्मवेत्ता को उसे छोड़ने में क्षण भर से ज्यादा समय कैसे लगता? तत्क्षण ही वज्रदन्त नामक पुत्र के लिए राज्य सौंपकर निर्ग्रन्थ बाना धारण किया। सत्य ही है, महान् आत्मायें अपने कार्य को विधिवत् ही पूर्ण करती हैं। राजा के दीक्षित होने पर उन्हीं के साथ सोलह हजार मुकुटबद्ध राजा, कामपुरुषार्थ से समुत्पन्न एक हजार पुत्र और आठ सहोदर भी निर्वाण दीक्षा को प्राप्त हुए। आमरण सभी मन, वचन,

काय से पंच पापों को परित्याग करके अहिंसा रूपी परम ब्रह्म की उपासना में संलग्न हुए। महाव्रतों का पालन महापुरुष ही करते हैं और महापुरुष के द्वारा ही पहले भी किया गया है, इसलिए सदा महाव्रतों की शुद्धिकरण की भावना से उनका अन्तःकरण विशुद्ध रहता है। अष्टमाताओं से उस बालकवत् निर्विकार वज्रनाभि का प्रतिपल पालन-अनुपालन चल रहा है। चलते-चलते ईर्या समिति की माता असंख्य जीवों को जीवनदान देती और स्वयं भी वज्रनाभि की आत्मा को पापपंक से बचाती। बोलने के समय भाषा समिति माता हित-मित-मधुर वचनों को सुना भव्य जीवों को वात्सल्य दुग्ध पिला देती। आज एषणा माता भोजन करते समय भी सावधान हो दाता द्वारा दत्त द्रव्य को रूखा-सूखा, ठण्डा-गरम, सब प्रकार का भोजन समता भावों से खिला आत्मानन्द में सुला देती। यदि उपकरण को रखना उठाना है तो चौथी माता सावधान कर आत्मपुत्र को पाप से बचा लेती। मलमूत्र के क्षेपण समय चित्त की पर पीड़ा परिहार का सतत् प्रयास स्व-पर उपकार करके प्रतिष्ठापना माँ पुत्र का ख्याल रखती। कभी भी मन में स्त्री की पूर्व कथा, राजा की वार्ता, चोरों का आख्यान, भोजन की मीमांसा आदि दुर्भावों की स्मृति से मनः गुप्ति माता, पाप कर्म के कीचड़ से अपने पुत्र का मन गन्दा नहीं होने देती। मन से मौन रहने वाले पुत्र की जिह्वा पर वचः गुप्ति माता सदा प्रतिष्ठित रहती। चाहे भित्ति चित्र हो या जीवन्त चित्र, मनः गुप्ति माता बालक को विकार की प्रतिच्छाया से भी बहुत दूर रखकर अलौकिक उपकार में संलग्न रहती। धन्य है यह रूप, यह चर्या जहाँ आठ-आठ माताओं से पालित पोषित हो, ठाट-बाट से मुक्त्यंगना के गृह की ओर वह जेता शनैः शनैः बढ़ रहा है। पुनः एक दिन असंख्य जीवों को अपनी उपस्थित मात्र से तृप्त और सन्तुष्ट करने वाले इस शरीर के पिता इस आत्मा के भी पिता और तीन लोक के परम उपकारी परम पिता के दर्शन से महाराज श्री वज्रनाभि के मन में भी अपने पिता की तरह विश्व-कल्याण की भावना के भाव आये, न कि उन्हीं की तरह तीर्थङ्कर बनने के। **पद की और माहात्म्य की लिप्सा तो पाप है, किन्तु उस पद पर प्रतिष्ठित व्यक्ति के गुणों की लिप्सा धर्म है,** यह सोचकर ही शंका, कांक्षा, जुगुप्सा आदि कुभावों का वमन करके सम्यग्दर्शन को विशुद्धतर बनाया। विनय की मूर्तिमान् प्रतिभा से

वह महाराज शील और व्रत के किंचित् भी उल्लंघन से परे सातत्य संसार के विषयों से भयभीत रहते हुए, सावधान हो, ज्ञान भावना में लवलीन रहते। यही सबसे बड़ा तप था, इसी की सिद्धि के लिए वे अन्य तपों से शक्त्यनुसार तप्त होते हुए कभी भी खेद खिन्न नहीं होते। **जिन कारणों से चित्त में विकल्प की लहर उपजे उस कारण का तत्क्षण त्याग ही उत्तम त्याग है,** यह सोचकर वे अपने में अप्रमत्त रह, पर की भी ऐसी ही निर्विकल्पता हो, पर साधु की भी समयोचित वैयावृत्य से प्रवचनभक्ति को करते हुए अर्हन्त और साधु शिरोमणि सूरियों की भक्ति प्रसाद से तथा ज्ञानवान् साधुओं की विशेष सेवा से अन्तरङ्ग शत्रुओं को जीतते हुए मदमस्त गन्ध हस्तिवत् विशाल अरण्य में एकाकी विचरण करते थे। जो पञ्चेन्द्रिय के विषयों में वशीभूत नहीं, उसका प्रतिक्षण आवश्यक में बीतकर, पूर्णता को प्राप्त हो रहा है। जिनकी प्रतिपल की चर्या ही जिनधर्म का प्रद्योतन करने वाली है। जिनकी धर्मात्माओं के प्रति सहज स्नेहिल दृष्टि अन्तरंग की स्वच्छता को बता रही है, ऐसे वज्रनाभि महाराज ने दुर्धर अनुष्ठान से प्राप्त तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध किया। विशुद्ध परिणामों से जिन्हें उत्तरोत्तर विशुद्धता प्राप्त हो रही थी, ऐसे वज्रनाभि महाराज ने समस्त मोह को उपशान्त कर दिया, पर यह स्थिति थोड़ी देर रही और पुनः काल के बल से अप्रमत्त-प्रमत्त अवस्था को प्राप्त हुए। जीवन पर्यन्त बाईस परीषह और दश धर्मों का अनुपालन कर अन्त समय में प्रायोपगमन संन्यास धारण किया। यह संन्यास मात्र शरीर को कृश करने या शरीर को छोड़ने से प्राप्त नहीं होता, किन्तु उसके साहचर्य से अगले भव में यह तन न मिले, किन्तु मात्र चेतन मिले, इसलिए इन प्राणों से मोह तोड़ना है ताकि चैतन्य प्राण का चिन्मय जीवन मिले। इस देह में ही प्राणों की प्राप्ति होती है। प्राणों की प्राप्ति से ही इन्द्रियाँ मिलती हैं। इन्द्रियों से विषयों में प्रवृत्ति होती है और इस तरह यह पाप प्रवृत्ति पुनः पुनः देह का दान देती रहती है, इस शृंखला को तोड़ने का संकल्प है, यह सल्लेखना मरण या संन्यास मरण में मात्र आत्मा और देह का वियोग नहीं किन्तु कषायों का अलगाव भी सतत् जारी है तभी तो वे द्वितीय बार शुक्लध्यान को प्राप्त हो पुनः पूर्णतः मोह के उपशमन की उपलब्धि पा गए और उसी उपशान्त मोह की अवस्था में आयु की अन्तिम लहर इस तट से दूसरे तट तक

चली गयी। वह अनुगामी श्रीमती अर्थात् केशव का जीव इस भव में वज्रनाभि चक्रवर्ती की निधियों और रत्नों में शामिल होने वाला तथा राज्य का अङ्गभूत गृहपति धनदेव नाम का तेजस्वी रत्न हुआ था।

❑❑❑

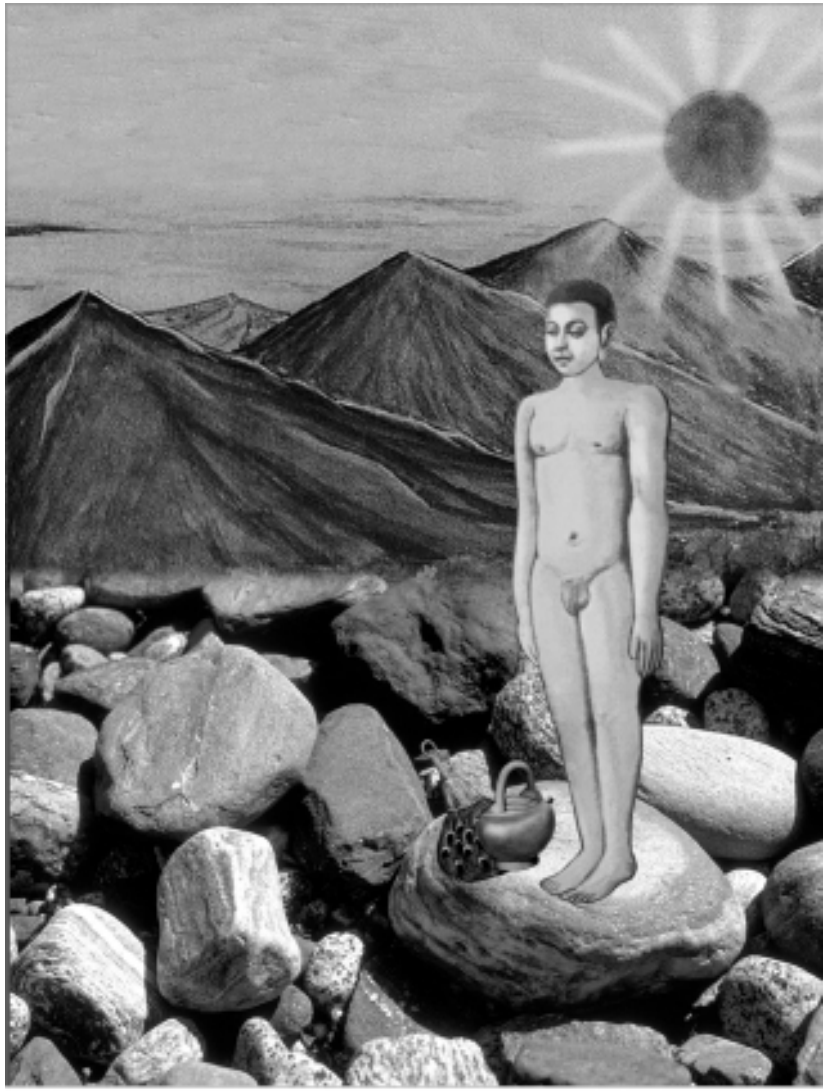

तीर्थङ्कर प्रकृति की भावना भाते हुए वज्रनाभि मुनिराज

10. युगद्रष्टा

और अब उपलब्ध हुआ इन्द्रिय सुख का उत्कृष्ट संसार। जहाँ से मात्र बारह योजन दूरी पर है सिद्धशिला, जिसके ऊपर वातवलयों से मस्तक को स्पर्श करते हुए विराजते हैं, सर्व अर्थ को सिद्ध करने वाले मुक्त-चेतन तन। ऐसा वह सर्वार्थसिद्धि विमान, जो कि वैमानिक देवों में सर्वोत्कृष्ट कल्पातीत देवों का सुख दिलाता है। उसमें उपपाद शय्या पर परम पुरुषार्थ के फलस्वरूप जन्म हुआ। एक नई देह, एक बार फिर स्वर्ग की अन्तिम शलाका जो मुक्त होने से पूर्व की है, पर अद्वितीय है। जहाँ पर पहुँचा आत्मा तदनन्तर भव में निश्चयतः मोक्ष को उपलब्ध करता है। जैसे पूर्व में श्रावकधर्म के फल की अन्तिम सीमा को अर्थात् अच्युत स्वर्ग को प्राप्त किया था, उसी प्रकार इस बार मुनि धर्म का उत्कृष्टतः आचरण कर, मुनिधर्म से मिलने वाले इस फल को पारितोषिक समझ सर्वोत्कृष्ट सीमा को प्राप्त किया। जिससे ऊपर सुख का सांसारिक साधन नहीं, जहाँ आपस में वैमनस्कता नहीं, जहाँ किसी की ऋद्धि, वैभव को देखकर भी जुगुप्सा की लहर नहीं। जहाँ पर पञ्चकल्याणक महोत्सव, नन्दीश्वर आदि महामहोत्सवों में जाकर सुख या पुण्य को प्राप्त करने की भी इच्छा नहीं। वे अपने ही परिकर में, अपने विमान में भ्रमण से संतुष्ट, अपने आप में परम शुक्ल भावों से प्राप्त उत्तम सुख का उपभोग करते। जहाँ पर वेद के, प्रतिकार की आवश्यकता नहीं क्योंकि वेद का उदय भी इतना मन्द है कि वे सदा निर्विकार मुनि के समान स्वतन्त्र निराबाध रहते। जहाँ पर दूसरे इन्द्र की भी कोई आज्ञा नहीं, शासन नहीं, किसी भी प्रकार का पारतन्त्र्य भाव नहीं। सब अपने में आत्मज्ञ हैं, आत्मा का नाम ही इन्द्र है, जहाँ प्रतिक्षण यह प्रतिभासित होता है कि, मैं वह सिद्धस्वरूप, ज्ञाता-द्रष्टा, मात्र चिद्विलास वाला हूँ, मैं पूर्ण इन्द्र हूँ, मैं अहमिन्द्र हूँ। द्वादशाङ्ग का ज्ञान रखने वाले वे देव कभी भी कलुषित नहीं होते, यह पूर्ण विज्ञता का ही सुफल है जो परस्पर में कषाय उद्घाटित नहीं होती है, फिर भी कषाय समुद्घात का सद्भाव मात्र सिद्धान्त में

कषायों के सद्भाव की विवक्षा में कहा जाता है। समचतुरस्र उत्तम संस्थान से अत्यन्त सुन्दर रूप वाले वे अहमिन्द्र वज्रनाभि, एक हाथ मात्र शरीर के उत्सेध वाले थे। हंस के समान शुक्ल शरीर की आभा से चन्द्रमा को जीतते हुए, अत्यन्त प्रशान्त चेष्टायें धारण करते थे। अपनी गम्भीरता से अपने अन्दर के उत्कृष्ट सुख को बताने वाले वे अहमिन्द्र दैदीप्यमान आभूषणों से अमृतकुण्ड में ही डूबे हों, ऐसे प्रतीत होते थे। अवधिज्ञान में ऊपर से ही लोक नाली में प्रवाहमान अनन्त दुःखित जीवों को देखते हुए मानो यही बता रहे थे कि इस संसार में कहीं भी सुख नहीं इसलिए ऊपर उठो। अपनी निराकुलता से वे मानो इन्द्र को भी सच्चे सुख का पाठ पढ़ा रहे हों। तैंतीस सागर की दीर्घ आयु को भी एकाकी रहकर पूर्ण करते हुए मानो यही बता रहे हों कि, परस्पर का सम्बन्ध, यह परिवार, आलाप, लौकिक व्यवहार, यह तालमेल आदि सुख के नहीं, दुःख के कारण हैं इसलिए उपशान्त भावों की वृद्धि करो। परम शुक्ल-लेश्या में ही आत्मिक सुख है। सुखाभास है वहाँ, जहाँ सुख की अवभासना पर सापेक्ष हो। जिस उपपाद शय्या को पाकर बिना किसी देव के प्रबोध के उन्होंने अपनी सफलता और किंचित् विफलता का रहस्य जान लिया। बिना किसी की प्रेरणा के जिनबिम्बों के दर्शन-पूजन को स्वयं प्रेरित हुए। तदुपरान्त यह अकाट्य नियोग है, यह जान वहाँ के सुख में लिप्त हुए। अवधिज्ञान को क्षेत्र के समान ही विक्रिया करने की शक्ति का क्षेत्र होते हुए भी, वे विक्रिया से रहित थे। तैंतीस हजार वर्ष व्यतीत होने पर वे मानसिक दिव्य आहार को करते थे। एक महायोगी के समान जिनके श्वास का आरोहण-अवरोहण अव्यक्त रहता था। ऐसे परमशान्त मुनि स्वरूप सोलह मास पन्द्रह दिवस बीत जाने पर एक बार श्वासोच्छ्वास लेते थे। वह धनदेव तेजस्वी रत्न भी, स्वामी की तपस्या के समान तप्त होते हुए उसी सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्रत्व को प्राप्त हुए। स्पर्धा का यह अलौकिक प्रतिमान अपने आप में अनूठा है। वही मित्रता, वही पुत्रत्व, वही स्त्रीत्व, वही मातृत्व सत्य है जो व्यक्ति को अलौकिक पुरुषार्थ के लिए बाधित नहीं करता। अन्तरङ्ग में धर्म ही मित्र है अपना शुभभाव ही अपना वत्स है, अपनी आत्मा की शान्ति ही स्त्री है और अपना चित्तत्त्व ही अपनी माता है, यह जानकर जो व्यवहार के सम्बन्धों को अपनाता है, वह धनदेव की तरह

निर्मुक्त रहता है और वज्रनाभि की तरह अलौकिक हित के प्रणेता का उपमान पाता है। दोनों अहमिन्द्रों के बीच धर्मचर्चा के ही सदा अवसर रहते। अपने पूज्य के प्रति विनयवान वह धनदेव का जीव अहमिन्द्र होकर भी वज्रनाभि के प्रति अपनी चेष्टायें संकुचित रखता, अपनी आत्म-प्रशंसा से दूर वज्रनाभि अहमिन्द्र के वचनों के धर्ममय वातावरण में सदा स्नान करता। अद्भुत है यह कृतज्ञता जो समान पद पर प्रतिष्ठित होने पर भी गर्व और कृतघ्नता से रहित है।

अपने दिव्यज्ञान चक्षु से सम्पूर्ण लोक के क्रियाकलापों में कई बार वह अहमिन्द्र एकाकार हो अपने में ही लौट आता। ब्रह्माण्ड के उदर में यत्र-तत्र-सर्वत्र ठसाठस भरा जीवत्व उसके संवेग की वृद्धि में हिस्सेदार हो जाता। आज फिर एकान्त में बैठे उस दिव्यज्ञान दर्पण में चित् उपयोग डूब गया। अहो! कोटि-कोटि योजनों को लांघने पर भी अन्तहीन रज्जू की मापकता तक विस्तृत यह ज्योतिर्लोक आकाश रूपी स्त्री की भुजाओं का शृंगार कर रहा है। उसके उपरितल में दूर-दूर तक प्रकीर्णित दिव्यविमान मानो उसकी केशों के गूंथने के गजरे हैं। यह वलयाकार मनुष्य और पशु सम्पदा से व्याप्त तिर्यक् लोक उस करधनी की तरह बीच में लटके हैं, जो पुरुषार्थ से ऊपर या नीचे कहीं भी खिसक सकती है। पाताल लोक की महातमः प्रभा तक की अन्ध यात्रा की अन्तहीन वेदनायें। इस झल्लरी समान लोक में स्वसंवेदन से शून्य मात्र कर्मफल का भोजन करती हुई पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रसकाय की संत्रस्तता का वेदन, मैं कैसे समझ सकता हूँ। सकल इन्द्रियों को पाकर भी यह पशु योनि में ताड़न-मारन की असह्य वेदना को लख हृदय स्वयमेव करुणद्रव को बहाने लगता है। मनुष्य योनि पाकर भी जड़ देह से ज्ञान चेतना का संवेदन करने वाला विरला पुरुष ही दीख पड़ता है। इन असंख्य देहों के भीतर से कैसे व्यक्त हो आत्मीय अनुभवन के स्वर। तृष्णा की वह्नि से जाज्वल्यमान हुए देह का एक-एक अणु समुद्र-सा अतृप्त है। एक-एक अणु में अनन्त-अनन्त अधूरी इच्छायें हैं जो प्रतिपल, प्रतिभव नव अभिनव होकर चली आती हैं। विगत का सारा भोग उसी देह के साथ विलग हो जाता है और फिर समाविष्ट हो जाता है दैहिक या ऐहिक जगत् में। कोई विधाता भी अगर इन प्राणियों की अदम्य वासना की पूर्ति करना चाहे तो वह भी विफल हो जाय। गणित यहाँ

अपनी सत्ता से दूर है। एक मात्र छोटा-सा लोक है और अतृप्त चेतना का एक-एक प्रदेश उसे अपने में समाहित करना चाहता है। इन अतृप्त चेतनाओं की संख्या भी गणनातीत है। दुःख के अनुषङ्ग से प्राण छटपटाते हैं और सुख के अनुषंग से तृप्ति की तरंग नहीं, फिर सच्चा सुख कहाँ है? किसमें है? किससे मिले? ये प्रश्न भी अनवतरित हैं। क्या कभी भू-खनन के बिना जलस्रोत मिला? क्या अविकल गगन में हाथ मारते हुए कोई उड़ा? क्या कभी श्वान को अस्थि चर्बन से तृप्ति हुई? क्या कभी समुद्र को नदियों के पूर से शान्ति मिली? क्या मोह धनुष पर कामबाणों को चढ़ाते-चढ़ाते कामदेव को कभी तृप्ति मिली? क्या षट्खण्ड पर एकदत्त राज्य करने वाले चक्री को विषयों में रस तुष्टि मिली? एक नहीं, दो नहीं, सहस्र विक्रिया करने पर भी क्या एक भोक्ता अपने तन की किसी भी नस से सुख की कोई झंकार पाया? विपरीत पुरुषार्थ में दिग्व्यापी मोह की माया में इसने अपने को ही छला है, अपने को ही ठगा है। इन्द्रियों के विषयों की ज्वाला में यह उसके ऊपर, पहले पतंगे की तरह भ्रमण करता है, तत्पश्चात् उसी में आहूत कर देता है अपना सर्वस्व। नव-नव संकल्प विकल्पों की पूर्ति का अरुक अथक प्रयास यह आत्मा देह की खुजली रोग की तरह जितना मिटाने और दूर करने को करता है, उससे कहीं अधिक पीड़ा के साथ वह फिर अपने को दुःखी ही पाता है। मिथ्याज्ञान, विपरीत तत्त्व का भान, सदा पराश्रित जीवन, चार संज्ञाओं से आच्छादित रहना आदि-आदि ही जीवनचक्र और मरणचक्र का प्रारूप बनाए रखता है। कैसे मिले समीचीन अलख अमूर्त आत्मा का ज्ञान और उसका विश्वास? कैसे जड़ देह की संयुति से सुखाभास का आभास हो? और सोचते-सोचते, देखते-देखते उपयोग की धारा टूट गई। मति और श्रुति के आलम्बन से ज्ञान को आत्मकेन्द्रित कर क्षण भर बैठे रहे, तभी अन्य अहमिन्द्र भी निकट आकर बैठ गए। अपने विशिष्ट शान्त स्वभाव और असाधारण तेज से अन्य सभी देव अहमिन्द्र होकर भी उनकी संगति के क्षण को सराहते। कई सागरों का काल इसी तरह सुखपूर्वक बीत गया। कभी जिनबिम्ब के दर्शन, कभी उन्हीं की स्तुति, स्तवन, कभी सिद्धों के गुणों का चिन्तन, तो कभी संसार के स्वरूप का दिग्दर्शन, कभी देवगोष्ठी में धर्म का बखान और श्रवण।

आयु की कलायें अब अत्यन्त क्षीण हो गयी। स्वर्ग से च्युत होने का पूर्वाभास हुआ। न कण्ठ की माला में म्लानता आयी और न परिमल में कुछ कमी। चारों ओर वैभव का विशाल साम्राज्य पर, शान्तमन किसे भोगे? अहमिन्द्र को न भय है न विषाद की लहर। बस, तटस्थ हैं, प्रवाहमान नदी की तरह, काल के अलंघ्य परिणमन की सीमा में। यह सुख शाश्वत नहीं, जो शाश्वत नहीं उसका विरह निश्चित है। जो शाश्वत है वही सुख है और उसी को प्राप्त करने का भाव प्रवर है। इस पर्याय में अधिक पुरुषार्थ सम्भव नहीं, ये बंधन विगलित हों और निर्बन्ध विचरण हो। मैं देख रहा हूँ कितना काल बीत गया इस भरतक्षेत्र में जहाँ अभी भोगों का प्रचुर विलास चला आ रहा है, करोड़ों-करोड़ों सागर बीत गए, इन संतप्त जीवों को सम्यक् मार्ग नहीं मिला। उत्सर्पिणीकाल के नव कोटि-कोटि सागर बीत गए और इस अवसर्पिणी के भी नव कोटि-कोटि सागर काल बीतने को हैं। इस प्रभूत काल के बीच मोक्ष पुरुषार्थ से वंचित अगण्य प्राणी मानो मुझे बुला रहे हैं। इस कलिकाल के लाखों करोड़ों मानवों, दानवों, पशु पक्षियों का उद्धार का करुणभाव मुझे बुला रहा है। आओ-आओ इस धरा को अब उसका पति चाहिए, आओ-आओ मुझे अब मुक्ति सूत्र चाहिए, अवतरित होओ, होओ, कलि के आद्य कर्णधार, ...।

❑❑❑

11. अवतरण : काल जेता का

और इधर अगणित काल से सोये हुए मनुष्य के समान भोगों की निद्रा टूटने लगी। जागृति की अवभासना होने लगी। कल्पवृक्षों से प्राप्त सम्पदा का शनैः, शनैः लुप्त होना यही बता रहा था कि मनुज! अब आँखें खोलो, बहुत सो लिए पुरुषार्थ करने को कटिबद्ध हो जाओ। इसी जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र के आर्यखण्ड में एक के बाद एक, ऐसे चौदह कुलकर जन्मे। जब इसी भरतक्षेत्र में जघन्य भोगभूमि के समान व्यवस्था चल रही थी और पल्य का आठवाँ भाग मात्र शेष रहा तब प्रतिश्रुति को आदि लेकर नाभिराज पर्यन्त चौदह कुलकर हुए, जिन्होंने समय-समय पर भोगों की व्यवस्था के लुप्त हो जाने से डरे हुए मनुष्यों को प्रतिबोधित किया। अन्तिम कुलकर नाभिराजा की आयु एक करोड़ पूर्व की थी और शरीर की ऊँचाई पाँच सौ पच्चीस धनुष थी। पहले, युगलों का जन्म होते ही माता-पिता मृत्यु को प्राप्त हो जाते थे। धीरे-धीरे लोग अपनी सन्तान का मुख देखने लगे और जब बालक की नाभि में नाल दिखायी देने लगा तो उसे ठीक तरह से काटना आप नाभिराज ने ही सिखाया, इसलिए आपका नाभि यह सार्थक नाम हुआ।

भोगभूमि का अवसान हो गया, कल्पवृक्ष समूल नष्ट हो गए। काल की गणना में अभी तृतीय काल चल रहा है पर क्षेत्र विपरीत हो चला है। जो कभी नहीं देखा ऐसा विस्मयकारी वातावरण सामने आ रहा है। मन में इच्छा होते ही सब कुछ सुलभ प्राप्त था, भूख-प्यास की पीड़ा नहीं थी पर अब हे नाभिश्रेष्ठ! यह सब क्या हो रहा है? यहाँ उदर में कुछ जलता-सा लगता है, जब कुछ खाने का समय आता है तो समझ नहीं पड़ता क्या खाऊँ? और प्रभो! ये ऊपर काले-काले क्या घिर आते हैं? जिनके आते ही अंधेरा छा जाता है, फिर थोड़ी देर बाद बहुत तेज आवाज होती है, कुछ चमकता है, फिर कुछ गिरता है और एकाएक हम लोग जलमय हो जाते हैं, थोड़ी ही देर में ठण्डी-ठण्डी क्या आती है? जो दिखती नहीं पर महसूस होती है, इतना ही नहीं

भगवन्! अब वे विशालकाय वृक्ष दिखते नहीं जो हमारा भरणपोषण करते थे, अब तो जगह-जगह ये ही दिखाई देते हैं और ये देखो यहाँ पर कुछ थोड़ा-थोड़ा, छोटा-छोटा कुछ ऊपर को निकलता आ रहा है, धीरे-धीरे यह ही बड़ा हो जाता है। हे कृपालो! हम सबकी समझ में कुछ नहीं आ रहा कि यह क्या है? हे नाभिराज! आप ही सबके पिता हैं, हम लोगों को बताओ ताकि अनाकुलता से जी सकें।

अपने दिव्यज्ञान से इन लोगों का भोलापन देखकर नाभिराज ने सब कुछ यथार्थ समझा और कहा देखो! पहले यहाँ बड़े-बड़े वृक्ष थे, वे वृक्ष अब आप लोगों को नहीं मिलेंगे। अब तो जो यह दिख रहा है, उन्हीं फल को खाकर भूख को दूर करना होगा और ये ऊपर जो काले-काले दिखते हैं, वे बादल कहलाते हैं जब वे बादल आपस में रगड़ते हैं तो उनसे जो चमकती दिखती है, वह बिजली है। ये ठण्डी-ठण्डी जो बहती है, वह हवा है। जो ऊपर से मोती से छोटे-छोटे बिन्दु गिरते हैं, वह जल है और यह वर्षा कहलाती है। ये जो धरती में से हरे-हरे अंकुर निकल रहे हैं, ये ही बड़े होकर पेड़ पौधे बनेंगे फिर इनमें फल लगेंगे उनको खाकर आपको तृप्ति होगी, इसलिए डरो मत। ये चावल हैं, ये गेहूँ हैं, ये सरसों हैं और इधर मूंग, अरहर, चना। ये ईख हैं, इनका रस निकालकर पीना। ये केले हैं, इनको ऐसे छीलना फिर खाना। ये द्राक्ष हैं, ये नारियल हैं, इनके अन्दर पानी है, इसकी ये गरी है .....आदि-आदि।

सच! प्रजा की सन्तुष्टि ही राजा का सुख है। भयभीत को अभय बनाना ही सबसे बड़ा दान है। समय पर समझ देने वाला ही गुरु है। हे आर्यश्रेष्ठ! आपने प्रजा को जीने के उपाय बताये इसलिए आप मनु हैं। आपने इन आर्य जनों को कुल की तरह एक साथ रहने को कहा इसलिए आप कुलकर हैं। आपने अनेक वंश स्थापित किए इसलिए आप ही कुलधर हैं। इस युग के प्रथम उपदेष्टा आप ही युग ज्येष्ठ हैं। नहीं, मरुदेवी नहीं। यह विश्व स्वयं अपनी शक्तियों से संचालित है। बोध-प्रतिबोध तो हमें इन्हीं से प्राप्त होता है। इन्हीं प्रजाजनों के पुण्य से मुझमें यह ज्ञान उद्भूत हुआ सो इन्हीं को दे दिया?

मानो नाभिराज की निश्चिन्तता से ही इन्द्र को चिन्ता हुई, क्योंकि जब पुरुषार्थी निश्चिन्त बैठता है तो देवों के भी आसन कँपने लगते हैं, कि कहीं ये मेरी सम्पदा को न ले जायें। अब इस आर्यक्षेत्र में हे कुबेर! कुछ अघटित घटित होगा, इसलिए मेरी इच्छानुसार एक विस्मयकारी अपनी प्रवीण कला से एक नगरी का निर्माण करो। जहाँ स्वर्ग के विमानों से गृह हों, उन पर विमान के शिखर की चोटी की ध्वजाओं की तरह चंचल साकेतायें लहरायें और उसका शाश्वत नाम साकेत हो। जो किसी भी परचक्र से युद्ध में विजित न हो इसलिए चाहो तो उसका नाम अयोध्या रख दो। रमणीय सुकोशल देश में निर्मापित होने से उसको सुकोशला कहकर घोषित करो। जहाँ सभ्य जनों का, शिक्षित चेष्टितों का ही प्रवास होगा इसलिए नय विनयवन्त जनों से भरी उस नगरी को विनीता भी पुकारो। यह कार्य अविलम्ब हो; क्योंकि महाकर्म जेता विश्वस्रष्टा धर्माधिपति युगप्रमुख, आदितीर्थ प्रवर्तक का जन्म होना है। उस महा-भाग को जन्म लेना है जो समय का विज्ञाता है, जिसकी प्रत्येक क्रिया आने वाले युग की धरोहर होगी। जिसके मन का एक-एक अणु विश्वकल्याण की भावना से ओतप्रोत होगा। जो स्वयं चलेगा फिर भी ऐसा लगेगा कि प्रत्येक काल कणिका उन्हीं का अनुसरण कर रही हो। इन्द्र ने कहा और कुबेर ने अपने कला कौशल से कुछ ही क्षण में निर्मित कर दी, वह अयोध्या नगरी।

इन्द्र ने जब निर्मित नगरी का सिंहावलोकन किया तो वह आश्चर्य चकित हो उठा। अरे! देव कुबेर! यह आपने क्या बनाया? कहीं स्वर्ग का ही कोई रूप उठाकर तो नहीं ले आये। नहीं-नहीं, स्वर्ग से भी सुन्दर मनोहारी इस नगरी में भवनों, राजप्रासादों, लतावनों, मण्डपों, छज्जों और छतों की बेसुमार कला कौशलता यह आपने कहाँ से सीखी। नहीं प्रभो! यहाँ मेरा कुछ नहीं, सच कहूँ देवेन्द्र! यहाँ आपका भी कुछ नहीं। यह सब वैभव और चकाचौंध तो उसी अजन्मा की है जिसके निमित्त यह निर्मित हुई। यहाँ कुछ मैंने किया, उसके लिए किया, ऐसा वैसा इन बातों का कोई स्थान नहीं। पुण्य रूपी बालक की ये विचित्र लीलायें हैं, जो अपने पिता की गोद में ही खेलता है और उसी पालक की गोद में स्वतः तिरोहित हो जाता है। पश्चात् सभी देवों ने आकर शुभ दिन, शुभ मुहूर्त में अतिशय समृद्धवान् अयोध्यानगरी में निवास प्रारम्भ कराया।

नाभिराज और मरुदेवी यह सब देख अत्यन्त विस्मित थे। स्वयं इन्द्र अपने सहायक अन्य देवों के साथ पुण्य तीर्थ के उत्स पदों को पूजकर अपने निवास स्थान पर चला गया।

प्रभु के जन्म लेने के छह मास पूर्व से इन्द्र की आज्ञानुसार नाभिराज के नवनिर्मित विशालकाय भवन में गणनातीत रत्नवृष्टि होने लगी। महारानी मरुदेवी विस्मय से सोच उठी कि ये महार्घ्य रत्न इस महल में कैसे बिछे पड़े हैं! मानो आकाश के सभी ग्रह और नक्षत्र ताराओं सहित इस प्रांगण में आ पड़े हों। कहीं यह नील कुलाचल ही चूर्ण-चूर्ण तो नहीं हो गया। परस्पर में घुली मिली इन रंग बिरंगे रत्नों की आभा से सारा महल आपस में किसी से बोलता-सा लगता है। महल की छतें ऐसी पट गयी हैं कि, लगता है मैं किसी नील सरोवर में तैर रही हूँ। इन भित्तियों पे मरकत मणियों की आभा, यहाँ पन्नारत्न, ये मूँगा माणिक्य के ढेर, प्रत्येक गृह में रत्नों के तरह-तरह से उपयोग हो रहे हैं। कोई उन रत्नों से अपनी पगतलियाँ घिसता है, तो कोई गले में संजोकर आभूषण बना लेता है। कोई उनमें अपने चेहरे देखता है, तो कोई उनसे खेलता रहता है। पड़ोसी जन इन दिव्य रत्नों को बटोरते नहीं थकते। सारी अयोध्या का वैभव स्वर्ग की नगरियों से भी अग्रणी है।

और एक दिन - हे नाभि श्रेष्ठ! छह महीने होने को हैं अनवरत यह क्या चल रहा है। ये वैभव, विलास, सौन्दर्य की उत्कटता का प्रयोजन क्या? इन झिलमिलाती नीलाभ, रक्ताभ, हरिताभ, पीताभ, श्वेताभ मणियों की राशि में डूब-डूब कर मैं अपनी देह के रंग को भी भूल गयी हूँ। आपके दिव्यज्ञान में सब परिलक्षित हैं, पर आपने मुझे इससे क्यों बेखबर रखा है? मैं अब कुछ रहस्य समझना चाहती हूँ प्राणनाथ! रहस्य! रहस्य तो प्रकृति में हमेशा से रहा है। समय पर उसका उद्घाटन होगा और वह समय आने वाला है, आर्ये! बस उतनी ही दूर है वह, जितनी देर अभी मयंक को ऊपर आने में है। सब कुछ यहाँ व्यवस्थित है। प्रत्येक कण इस ब्रह्माण्ड का अपनी ही गति से गतिमान है। उद्घाटित होने से पहले वह रहस्य लगता है, बाद में तो वह अपना ही परिचित सा लगता है। इस तरल मृदिम शय्या की स्फुटता कुछ कह रही है उसे समझो। तन्वंगि! विशाल खांङ्गण में द्योतित चन्द्रमणि को निगल जाने को जी कर रहा

है। शशि की इस शीतलता में सुख का झरना झर रहा है और ये छोटे-छोटे चमकीले तारे मानो कुमुदिनी की मुंदी पँखुरियों में छिपे पराग से खेलना चाहते हैं। इस नीलम रजःआर्णव में डूबे और छिपे शुक्तिपुट में मुक्ताधारण की सम्भावनायें किसी तेजो राशि की प्रतीक्षा में हैं। अन्धकार गहराता ही चला जा रहा है। समूचा विश्व निःशब्द हो गया है और तभी ब्रह्मविप्रुष् कर्मभूमि के विश्वभर्ता की शक्तिमान् आत्मा को अवकाश देने के लिए कूर्मोन्नत प्रदेश समूह की पृष्ठ ग्रन्थि को भेदकर एकमेक हो, वहीं ठहर गया।

गगनमणि कहीं दूर तक यात्रा कर चुका। विभावरी का पिछला प्रहर उपस्थित होने वाला है। गहरी तन्द्रा में लीन मृदु मरुदेवी को लगा कि, मेघों को चीरता हुआ एक महाकाय गन्धहस्ति जो अपने दोनों कपोलों और सूँड़ से मद जल की वर्षा करता हुआ दौड़ा-दौड़ा आया और मध्य में ही कहीं विलुप्त हो गया और मानो उसने ही शुभ्र शुक्ल वर्ण के बैल का रूप धारण कर लिया; पर यह क्या? मेरे पास आते-आते वह कहाँ अन्तर्धान हो गया और उसके स्थान पर शशाङ्क-सा शुक्ल स्वप्निल काया में रक्त दाढ़ी को तीक्ष्णता से घुमाता हुआ, क्रुद्धपीत नयनों से युक्त भीषण रव करता हुआ कोई वन सिंह आया ही था कि वह भी कहीं तिरोहित हो गया। तत्क्षण मैंने अपने ही रूप वाली कोई रूपसी लक्ष्मी को देखा, जो स्वर्ण कमल पर आसीन है और देवनगों ने तभी कनकमय पूर्णकलशों से अभिषेक किया। फिर मधुरों की झंकार युक्त दो पुष्प मालायें दिखीं और लुप्त हो गयीं। अरे! ये धवल चाँदनी और असंख्य तारिकाओं से युक्त पूर्ण मण्डल चन्द्रमा।

फिर मानो मैं किसी दूसरे ही लोक में पहुँच गयी, जो विचित्र सूर्य की प्रभा और प्रकाश से परिपूर्ण है। तत्क्षण ही लगा कि उस सूर्य ने अपनी प्रभा को समेट लिया और दो तपनीय कलशों का रूप ले लिया। फिर स्वच्छ और निर्मल सरस में मछलियों का चंचल युगल। ये मछलियाँ ओझल हो गयीं और सामने है, मात्र वह सरः जो अपने जलज की पराग छटाओं से आच्छादित है। फिर भयंकर गर्जना से नक्रचक्रों को उछालता हुआ सीमाक्रान्त महासमुद्र, लगा कि अचानक यह तालाब इतना शान्त हो क्षुब्ध क्यों हो गया ? और इतना मनोहारी मणिखचित स्वर्णमय सिंह युग्म सहित सिंहासन। तभी झलका एक स्वर्ग का

विमान मानो वह मेरे उदर के पार्श्व भाग पे गिरा हो। साथ ही पृथ्वी भेदकर आ गया एक नागेन्द्र भवन, जो स्वर्ग के विमान से ईर्ष्या के कारण सहसा निकल पड़ा, मेरी देह की किरणों से यह आकाश रत्नराशि से आप्लावित हो गया और विलीन हो गया। शेष है मात्र चमकती निर्धूम अग्नि। वह सब देखने के बाद ऊँचे-ऊँचे कन्धों वाला स्वर्णिम आभा लिए एक सुन्दर बैल मेरे पास आया और इतना निकट कि वह मुझमें समाता ही जा रहा है, मानो मेरे अंग-अंग में व्याप्त हो गया उसका अस्तित्व।

यह वह रात थी जब इस जघन्य भोगभूमि नामक तीसरे काल के मात्र चौरासी लाख पूर्व तीन वर्ष आठ माह और पन्द्रह दिन अवशिष्ट थे, अर्थात् आषाढ़ मास की कृष्ण पक्ष की द्वितीया का शुभ दिन जब चन्द्रमा उत्तराषाढ़ नक्षत्र से शोभित था।

रात्रि का अवसान हुआ और ऊषा की अब शान हुई। कुमुदिनी का निरादर हुआ और कमलिनी का आदर हुआ। शीतांशु अस्तंगत हुआ खरांशु मुदित हुआ। चक्रवाकी का मिलन हुआ और कंचुकी का विरह। भोगी उठ गया कि योगी सो गया। प्रकृति की विचित्रता के ये मूक उपदेश कहीं कोई श्रमण पढ़ रहा था कि कहीं पर मृत्यु का दरवाजा खुला और पक्षी निकलकर बाहर आया ही था कि वह फिर कैद हो गया; शुक्तिपुट में मुक्ता की तरह।

भोर हुई, बन्दीजनों के मंगलगीतों की शोर शुरू हुई, तन्द्रा चोर हुई और मरुदेवी विभोर हुई। मंगल स्नान और वस्त्राभूषण धारण कर वह कमलनयनी अपने प्राणेश्वर के निकट पहुँची और रात्रि में देखे सोलह स्वप्नों को निवेदित कर कहा हे महावल्लभ! मैंने आपसे पहले भी रत्नवृष्टि का रहस्य जानना चाहा था और आपने कुछ बताया या मुझे भुला दिया, मैं समझ न पायी, अब मैं इन विचित्र स्वप्नों से भी अज्ञात हूँ। आज मैं यह रहस्य स्पष्टतया जानना चाहती हूँ।

हे कल्याणि! आज समय आ गया, उस रहस्योद्घाटन का। सुनो, आपके गर्भ में पिछली निशा में एक महाभाग प्रविष्ट हुआ जो हाथी के समान उत्तम बैल जैसा ज्येष्ठ तथा सिंह सा पराक्रमी होगा। जो मन्दराचल पर लक्ष्मी

युत देवों से अभिषिक्त होगा। जो माला गुम्फन की तरह धर्म परम्परा का वाहक होगा। वह चन्द्रमण्डल की तरह जगत् को आनन्दित करने वाला होगा। सूर्य सी जाज्वल्यमान प्रभा का धारक वह दो कलशों सी मंगल निधियों का स्वामी होगा। मत्स्य युगल-सा सुखी, सरोवर की तरह अनेक पुष्पित लक्षणों से भरा हुआ, समुद्र-सा अनोखा केवली होगा। सिंहासन पर प्रतिष्ठित होने वाला वह विश्व कल्याण की भावनाओं से स्वर्ग विमान से अवतीर्ण होगा। वह अधो गतिमान् अवधिज्ञान से युक्त होगा इसलिए नागेन्द्र भवन दिखा। रत्नराशिवत् गुणों की खानि वह कर्मरूपी ईंधन को जला निर्धूम अग्नि शिखा-सा प्रदीप्त होगा। गर्भ में आने से पूर्व उसके पुण्य प्रताप से यह रत्नवर्षा हो रही थी और चूंकि आज वह गर्भ में आ गया है इसलिए अन्त में सोलह स्वप्न देखने के बाद वह पीताभ, वृषभ आपके कमलमुख से प्रविष्ट करता दिखा। यह रहस्य अपने दिव्यज्ञान अर्थात् अवधिज्ञान से जानकर मैंने कहा।

वह मुक्ता कैद तो हो गया पर उसकी कसमसाहट से ब्रह्माण्ड कसमसा गया। स्वर्गालय में प्रकट होने वाले विशेष चिह्नों से इन्द्र ने जान लिया कि सर्वार्थसिद्धि विमान से च्युत होकर वह देव मरुदेवी के गर्भ में अवतीर्ण हुआ। इन्द्र स्वयं अनेक-अनेक देवों-देवियों से सहित वहाँ आये और नगर प्रदक्षिणा कर भगवान् के माता-पिता की वन्दना की। सारा महल देवों से खचाखच भरा है, चारों तरफ संगीत और मंगलवाद्य बज रहे हैं। देवांगनाओं के नृत्य से मरुदेवी को अतिशय रिझाया जा रहा है। तभी इन्द्र ने दिक्कुमारियों को याद किया। बिजली की पंक्ति के समान वे श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी ये षट्कुमारियाँ अवतरित हुईं, जो इन्द्र में पहले से ही अनुराग रखतीं थीं। फिर स्वयं स्वामी ने याद किया, इससे अधिक प्रसन्नता और क्या हो? यह सोच इन्द्र के सम्मुख चन्द्रमुखी-सी खड़ी हो गयीं। इन्द्र की आज्ञानुसार वे, माँ मरुदेवी की सेवा में नियुक्त की गयीं और सब ही देव माता-पिता का अतिशय वचनों से आदर कर अपने-अपने लोक में चले गए।

❑❑❑

12. लीलायें : प्रथम-पुरुष की

सर्वप्रथम उन षट्कुमारी देवियों ने पवित्र पदार्थ से गर्भ का शोधन किया। गर्भस्थ शिशु के होने पर जो लक्षण जननी में प्रकट होते हैं, वे मरुदेवी में उत्पन्न हुए नहीं थे। षट्देवियों की सेवा सुश्रुषा से वे मन, वचन, काय से प्रशस्त थी। वन विहार हो या सीढ़ी पर आरोहण देवी मरु को यह पता ही नहीं पड़ता कि वे कब वन में पहुँच गयीं और कैसे बिना कष्ट छत पर। जैसे-जैसे बालक गर्भ में बढ़ रहा था, माँ और अधिक प्रसन्न और कान्ति से दीप्त हो रही थीं, मानो बालक का ही अन्तः तेज उनकी देह में प्रसरित हो रहा है। नाना पहेलियों, काव्यों, कविताओं और वीर पुरुषों की कहानियों तथा महापुरुषों के चरित्रों का नित्य श्रवण-श्रावण सुखद था। उन देवांगनाओं द्वारा माँ की परिचर्या में हर सम्भव क्रिया की जाती थी, जो माँ को सहज स्वीकृत हो। नृत्य गोष्ठियों में सभी हाव-भाव, विलास, वादित्र गोष्ठियों में गीतों और कव्वालियों की लय तालता, कभी जल क्रीड़ा, कभी वन क्रीड़ा, तो कभी जादूखेल, कभी नाभिराजा की कीर्ति का गान, तो कभी माँ की सौभाग्यता का बखान, कभी अपूर्व आश्चर्यों का वर्णन, कभी मिष्ट भोजनपान की रोचकता, कभी माँ के अद्भुत शृंगार सौन्दर्य की प्रशंसा, कभी उनकी सेवा, ऐसा करने से माँ के नवमास कुछ क्षण के समान बीत गए। तदनन्तर चैत्र कृष्ण नवमी के दिन जब सूर्योदय के समय उत्तराषाढ़ नक्षत्र था और ब्रह्म नामक महायोग था तब कलिकाल का अग्रणी प्रणेता, सन्त्रस्त अनन्त प्राणियों को माया मोह के जंजाल से मुक्त कराने का अचूक संकल्प लिए विश्व के द्वारा सदा उपगम्य, सोलह महा भावनाओं की प्रभावना का एक मात्र स्रोत, देवों के वचनों से प्रशंसित, रवि के समान तेजस्वी और प्रभावी रविवार को इस धराखण्ड पर प्रसूत हुआ कि तत्क्षण.....।

स्वर्गलोक, भूलोक और अधोलोक में खलबली मच गयी। सौधर्म इन्द्र का आसन कम्पित हो गया। शची डर गयी। इधर ज्योतिर्लोक में भयंकर सिंहनाद हुआ। व्यन्तर आवासों में और शिविरों में भेरी गरज उठी। भवनवासी-देवों के निलय भी शंखध्वनि से क्षुभित हो गए और कल्पवासी विमानों में झन-

झन घण्टियाँ झनझनाने लगीं। विश्व में इस क्षोभ का कारण अवधिज्ञान से जानकर महाइन्द्र सपरिवार चतुर्निकाय के देवों के साथ हाथी, घोड़े, रथ, गन्धर्व, नृत्यांगना, पियादे और बैल से सज्जित सात बड़ी-बड़ी सेनाओं को लिए प्रस्थान किया। अपने-अपने विमानों और अपने-अपने वाहनों पर सकल देव, समाज, सेना प्रचुर कोलाहल के साथ सम्पूर्ण आकाश मण्डल में व्याप्त हो गयी। तदनन्तर शीघ्र पवित्र भू पर उतर शोभायमान अयोध्यानगरी को चहुँ ओर से घेर लिया। जम्बूद्वीप के समान विस्तार से युक्त महावैभवशाली ऐरावत हाथी से सौधर्म इन्द्र उतरकर राजा नाभिराज के प्रांगण में पहुँचा। पश्चात् इन्द्राणी ने बड़े ही उत्सव के साथ प्रसूतिगृह में प्रवेश किया। कुमार जिन के साथ जिन-माता को देख हर्ष और अनुराग से आपूरित हो जिनबालक को प्रणाम किया और माँ श्री की भूरि-भूरि स्तुतियों से स्तुति की। पश्चात् माँ को मायामयी निद्रा में सुलाकर और मायामयी बालक को निकट रखकर शची उस तेजपुञ्ज को अपनी गोद में लिए इतनी विभोर हो गयी मानो आज उसने तीन लोक को अपने आँचल में समेट लिया हो और स्त्रीत्व की उत्कृष्टता को प्राप्त कर लिया हो। यह सुख इन्द्राणी का समस्त ऐन्द्रिक-सुख से विलक्षण था। इन्द्र के कर कमलों में सौंपते हुए बालक ऐसा लगा मानो इन्द्र ने तप्त सूर्य को अपने हाथों में कैद कर लिया हो। तभी ईशानेन्द्र ने ऊपर धवलछत्र तान दिया और सनतकुमार और माहेन्द्रपति दोनों ओर चँवर युगल ढ़ोरने लगे। इन्द्र ने सहस्र नेत्रों से उस यशो पुञ्ज को देखा, अतृप्त मन ने अपनी देह के अंग-अंग का साफल्य घोषित किया और ऐरावत हस्ती पर बैठ आकाश को सुदूर तक लांघता हुआ इस मध्यलोक के चूड़ामणि, विश्वकीर्ति की पताकाओं से कीर्तिमान्, चारणयुगलों से पूजित, स्वर्गलोक की हँसी करने वाले, चतुर्दिग् तीर्थकृतों की कीर्ति फहराने वाले महामेरु सुमेरुपर्वत के सर्वोच्च सिंहासन पर आदर से बैठाया। वह सिंहासन ऐशान दिशा में बड़ी भारी स्फटिक निर्मित पाण्डुकशिला पर प्रतिष्ठित है। सौ योजन लम्बी और पचास योजन चौड़ी, आठ योजन ऊँची, अर्धचन्द्रमा के समान आकारवाली उस शिला पे बैठे जिन बालक ऐसे सुशोभित हो रहे थे कि मानो मोक्ष शिला पर विराजमान हों। नवजात शिशु है और सिंहासन पर बैठा है। सब कुछ समय से पहले गतिमान हुआ-सा लगता है, पर इन्द्र है कि निःशङ्क हो योजनों व्यास वाले हेमकुम्भों से अभिषेक किए जा रहा है और क्षीरसागर का वह जल पवित्र होता हुआ पूरे सुमेरु को पवित्र कर गया। चन्दन

बालक ऋषभ का सुमेरु पर अभिषेक करते हुए इन्द्र गण

से युक्त वह जल सकल देव-देवाङ्गनाओं के अन्तस् को धोता चला जा रहा है। सभी ने उस पवित्र उदक से अपने को पवित्र किया पश्चात् उस जल प्रवाह ने समस्त लोक नाली को पवित्र किया। ऐसा लगता है कि उस प्रेम गुलाल में रंगे सब देवों को आनन्दित देख मनुष्यों ने होली खेलना सीखा हो। तदनन्तर इन्द्राणी ने हर्ष से जगद् गुरु के निर्विकार शरीर को अलंकृत किया, जो अपनी

ही शोभा से परिपूर्ण थे। दिव्य वस्त्रों से उस पीताभ को छिपाने का प्रयास किया पर वह छिपी नहीं। स्नान कराया उसका, जो निर्मल है पहले ही अन्तरङ्ग और बाह्य में। स्वर्ण की चमकीली काया पे चन्दन विलेपन क्यों किया? शायद चन्दन को पूज्य बनाने के लिए। उस वीतराग निरम्बर काया को अम्बर से आवरित क्यों किया? सच है रागी को वीतरागता पसन्द कहाँ? अपने ही रंग में वह दुनिया को रंगना जो चाहता है। पहले से ही जिनके दोनों कर्ण छिद्र युक्त हैं, मानो राग और द्वेष जहाँ रहने का स्थान नहीं पाते हैं, पर उन रिक्त कर्णों में कुण्डल पहनाये गए; क्यों? शायद सूर्य और चन्द्रमा दोनों उनके कपोलों की बलिहारी देने आये हों। गले की तीनों रेखाओं पे चमकीली मणियाँ लगा दी गयीं क्यों? शायद बताना चाह रही थी इन्द्राणी, कि ये रत्नत्रय से पूरित हैं। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान तो अवधिज्ञान के साथ जन्म से ही लेकर आये हैं और सम्यक् चारित्र, उसकी कमी कहाँ ?

बड़े-बड़े चारित्रवन्तों में जो धीरता, गम्भीरता न हो, वह यहाँ आकर सीखे। उस ललित आस्य पर सुन्दर बिखरा हास यह सब सोचकर ही मानो मन ही मन रागियों के राग की उत्कटता पे हँस रहा था। सब जान रहा था इसीलिए सोचा इनको भी कर लेने दो अपने अनुरूप, अपने मन का। पर यह पृथक् है हमारे सौन्दर्य से; एकदम पृथक्। ये गले में पड़े मोतियों के हार; अहो। जड़ से उत्पन्न हुए हैं, फिर भी इतने प्रसन्न हैं; अपनी ही मस्ती में डोल, हिलोरें ले रहे हैं, मानो यहाँ पर वे भी चैतन्य हो गए हों। कैसा विचित्र है मोह का भाव; अखण्ड मुक्ता को भी छिद्रित कर दिया और गुम्फित करके हार बनाया, खण्डित में आनन्द मनाता है संसार। खण्ड-खण्ड को जोड़कर अखण्ड सुख पाना जो चाहता है। प्रकृति आपो आप अपने सौन्दर्य से सुन्दरित है, पुरुष अपने पुरुषाकर चैतन्य से चमत्कृत है, दोनों के स्वभाव विपरीत हैं, फिर भी कहीं से कुछ लेकर अपने में लगाकर दूसरे से छुड़ाकर, इसी जोड़-तोड़ में हर्षित-मुदित होता रहता है।

दाहिने पैर के अंगूठे में वृषभ का चिह्न देख इन्द्र ने बालक का नाम वृषभदेव घोषित किया और स्तुति कर, जय-जयकार कर, इन्द्र ने अपनी चेष्टाओं से खूब पुण्य का संचय किया। तदनन्तर अयोध्या नगरी में देव समूह के साथ आकर नाभिराज और मरुदेवी की स्तुति वन्दना की। मरुदेवी की निद्रा दूर की और बालक को उनकी गोद में इन्द्राणी ने सौंप दिया। त्रैलोक्येश्वर की

जननी! तुम ही से यह धरा पवित्र हुई, इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि ऐसे महाभाग पुण्य तीर्थ नदी का स्रोत भी शीघ्र शिवपथ गामी होगा। हे माँ! आप धन्य हैं। धन्य हैं। आपका अंग-अंग पवित्र है। आपने बता दिया कि काम पुरुषार्थ कितना बड़ा धर्म है। आपने निंद्य स्त्री पर्याय को अनिंद्य बना नारी का सम्मान बढ़ाया है। आपने जननी की महत्ता का प्रकाश किया है। इस सृष्टि के सृजेता का श्रेय मात्र मातृ शक्ति है। इस विश्व को करुणा का पाठ पढ़ाने वाली आप ही आद्य विदुषी हैं। क्षमा सहिष्णुता का उत्कट पाठ पुरुष माँ की गोद में रहकर ही सीखता है। आपने सारस्वत पुत्र को जन्म दिया इसलिए आप ही सरस्वती हैं। इस भारत भूमि की आप आद्य स्त्री हैं इसलिए हे भारती आप जयवन्त रहें। शंसुख अब्रह्म, कामिनी के रूप आप से ही प्रादुर्भूत होते हैं इसलिए आप ही शारदा देवी हैं। आप सदा कुशल रहें। हे ज्ञानदायिनि, शान्तिकामिनि इस विवेक हंस की जनयित्री आप गुणों की खान हैं। नर से नारी बहुत महान् है यह नारी शब्द की बड़ी-बड़ी मात्राओं से भी ज्ञात है। आपकी वात्सल्य गोद में भरा श्वेतक्षीर इस कलिकाल के कलंक का प्रक्षालक है। निःसन्देह आपकी गरिमा से यह नारी जगत् आलोकित हुआ।

तभी इन्द्र ने त्रिवर्गसम्बन्धी नाटकों को अयोध्या के आंगन में खेला। हर्ष से नृत्य क्रीड़ा का ताण्डव रूप दिखा जन-जन को रोमाचिंत कर दिया। अपनी हजारों भुजाओं पर हजारों दिव्यांगनाओं का नृत्य दिखा लोगों को आश्चर्यचकित किया। इन्द्र ने रंगभूमि पे भगवान् के पूर्व के दश जन्म के नाटक खेले। यह नट क्रीड़ा, नाटक, नृत्य, नाट्यशास्त्र तभी सब लोगों ने सीख लिए और स्वयं उत्सव मनाने लगे। अन्त में आनन्द नृत्य को समाप्त कर, प्रभु की सेवा में अनेक धाय देवियों को नियुक्त कर इस समय की सार्थकता को सराहता हुआ इन्द्र, अपने लोक चला गया। पश्चात् पिता नाभिराज ने जन्मोत्सव मनाया। ऐसा कौन-सा व्यक्ति था, जो उस बालक को देखने नहीं आया हो? ऐसा कौन विद्याधर जिसने अपनी आँखों को सफल नहीं बनाया? ऐसा कौन-सा व्यन्तर देव, दानव, गन्धर्व, जिसने अपने अंग-अंग को न थिरकाया हो? ऐसी कौन-सी जननी जिसने माँ की कोख को सराहा न हो? ऐसा कौन-सा जीव जो उस परिसर में आकर दुःख न भूल गया हो? ऐसी कौन-सी माता जो अपने पुण्य पाप के फल का विचार न कर रही हो ? ऐसी कौन-सी दिक् कन्या जो बालक को गोद में लेने का भाव न करती हो? ऐसी कौन-सी रूपसी जो जिन सूर्य को

लुभा न रही हो? ऐसा कौन-सा बालक जो उन्हें अपना गुरु न मानता हो? हर नगर की हर गली में हर घर में हर व्यक्ति की हर जुवां पर उसी बाल प्रभु के चर्चे, उन्हीं की बाल क्रीड़ा का सुखद अवलोकन, देवताओं का किंकर-सा रूप बनाकर रिझाने का आनन्द, सब कुछ अद्‌भुत, अलौकिक, अतीव विस्मयकारी और अनुपम।

पर शिशु शैशववय में भी इतना अनोखा कि माँ-पिता, देव-दानवों सबकी समझ से परे। देवियाँ भी समझ नहीं पाती कि इनकी वय क्या है ? और इस वय में इनसे क्या बर्ताव करें ? धीरता, गम्भीरता की सीमा नहीं है, तो हास्य क्रीड़ा के आनन्द का भी पार नहीं। कभी चलता-चलता खड़ा हो जाता है तो कभी ऐसे लेट जाता है मानो वर्षों से सो रहा हो। कभी रोता नहीं, कभी तड़फता नहीं, कभी कुछ भूख नहीं, कोई इच्छा नहीं मानो पूर्ण तृप्त है। कब धरती पर चला, कब खिसक-खिसक कर चला, कब लेट कर चला, कब बैठा और कब खड़ा हो गया कुछ समझ नहीं आया। अभी पिता की अंगुली को पकड़ झट से खड़ा हुआ, पिता ने गोद में उठाना चाहा पर ऐसा दृढ़ मानो किसी पृथ्वी पर पैर जमा दिए हों, पिता ने थककर छोड़ दिया, तो तुरन्त वह अप्रतिम वीर्य गोद में जा बैठा और नाभिराज की खुशी का पार नहीं। माँ चाहती है अपने वात्सल्य कुम्भों का करुणक्षीर उसे पिलाना, पर उसे कोई इच्छा नहीं, जब कभी आंचल में छिपकर बैठता है तो माँ अपनी गोद में ऐसे समेट लेती मानो अपने दुग्ध को बालक के श्वेत रुधिर से एकमेक ही करने का प्रयास कर रही हो। न कभी स्वेद की बूँद, न मल, न धूलि का जमाव, उत्तम संहनन और समीचीन आकृति, सर्वश्रेष्ठ रूप की सौन्दर्य छटा पे सुरभि से आकृष्ट मधुलेहि पंक्ति, चन्द्र, सूर्य, समुद्र, मीन आदि सहित आठ मंगल द्रव्य को आदि लेकर एक सौ आठ लक्षण और तिल, लहसुन, मसूरिका आदि 900 व्यञ्जनों से खचित रचित बाल भानु का शरीर ऐसा शोभित होता, मानो विधाता ने बहुत प्रयास से इतना सुन्दर शरीर बना पाया हो और प्रिय, हित वचनों से आकर्षित, मनमुग्ध करना तो पूर्व जन्म से लाये हुए अतिशय गुण थे, जो स्वाभाविक थे। चन्द्रमा की कला से बढ़ते-बढ़ते अंग-अंग के सौन्दर्य की वृद्धि से अन्तस् से त्रि-सम्यग्ज्ञान भी स्फुरायमान होने लगे। बिना किसी की शिक्षा के ही पूर्व और अंगों की सम्यक् स्मृति ताजा होने लगी। अपने दिव्यज्ञान से कार्य-अकार्य का विचार कर कर्त्तव्य बोध जागृत होने लगा। नीति, निपुणता, वादित्र कला, नृत्य अभिनय,

गोष्ठी का संचालन, आदि पौरुषिक कलायें समयोचित प्रकट हो गयीं, जैसे वर्षा ऋतु में आपो आप वर्षा होने लगती है या शरद् ऋतु में पूर्ण सूर्य प्रकट हो जाता है।

यौवन की दहलीज पर खड़ा हुआ कल्पवृक्ष-सा सर्व का भाग्य विधाता, आपो आप ही युवराज था। देवराज, सिंहराज के सिंहासन पर स्वयं वे बैठें। विविध आभूषणों से उनका क्या सौन्दर्य बढ़ेगा, वे वस्त्र और आभूषण ही इस देह से चिपट के सुन्दर हो जाते हैं। कौन इन्द्र, कौन-सा धरणेन्द्र? कौन-सी वह शक्ति? जो इनकी आँखों में आँखें मिलाने का साहस करे। कौन-सा वह गुण जो इस चिति में अनुपलब्ध हो? कौन-सी वह विद्या जो यहाँ अपनी हार नहीं मानती हो? दिग्गजों की पुष्कर से पुष्कल महाभुजाओं पर बाजूबन्द थे, या अपनी मणियों को दिखाते हुए भुजंग थे। हार और तुषार-सी निर्मल देह में क्या प्रतिबिम्ब नहीं हो रहा था? सदा युवा, सदा बलिष्ठ देह यष्टि की क्या बात? पाद कमलों का वह प्रक्रम जब इस मेदिनी पर आता तो वह धरित्री भी प्रसन्न हो उन चरणों को अपनी छाती पर थामना चाहती थी, पर वो रुकते नहीं, तो पीछे उड़ी धूलि से वह रोने लगती। विशाल वक्षः स्थल पर लक्ष्मी क्रीड़ा करते-करते थक जाती पर तृप्त नहीं हो पाती। प्रत्येक उर्वशी के उरोज उन नयनों को ऊपर उठाना चाहते पर सफलता कहाँ? कामिनी विह्वल है, कामदेव दुःखी है, आज हमारा यहाँ आदर क्यों नहीं? यम की विजय यहाँ असम्भव, क्यों? कुबेर वसुन्धरा पर लोट रहा है पर कुछ स्वीकारते क्यों नहीं?

ये सब प्रश्न अनुत्तरित हो माता-पिता क्या पुरवासियों के ओठों पर भी सदा विद्यमान हैं। यौवन और प्रज्ञा का उत्कर्ष देखकर और प्रभु का सरस्वती में अतिशय प्रेम देखते हुए भी एक दिन महाराज नाभिराज ने कहा- पुत्र वृषभ! मैं जानता हूँ इस सृष्टि के ज्ञान सूर्य में मोह, राग जैसे अन्धकार को कहीं भी स्थान नहीं। मैं जानता हूँ आपका आचरण समुद्र-सा अगाध है गंभीर है और उसमें रत्नत्रय के मोती गहरी पैठ ले अपनी शक्ति बढ़ा रहे हैं, पर हे मोहसूदन! वह समुद्र भी तो बाहर से कितना आनन्दित हो ज्वारभाटों से अपनी बेला तक कल्लोलें फैला कर हिलोरें लेता है, इससे उसकी गंभीरता में कोई अन्तर नहीं आता। इस बात को मैं इसलिए कह रहा हूँ कि, हम प्रकृति के इन उपमानों से ही जीने की कला सीखते हैं। इन महान् उपमानों का अनुसरण कर उपमेय बनते हैं महाधीर मानव और उन महामानवों का ही अनुगामी यह विश्व स्वतः होता

है। इस युग की आदि में आपका प्रत्येक आचरण इस आगामी काल के लिए अदम्य देन होगा। यह विश्व आपसे ही गतिमान होगा। आप जब चलेंगे तो यह विश्व भी चलेगा, आप जब मचलेंगे तो यह विश्व भी अपने में कुछ स्फूर्ति महसूस करेगा। इस जड़ लोक को आप नयी ऊर्जा से स्फूर्जित करें। विश्व कल्याण का यह सन्तति जनक कर्म भी धर्म है, यह तभी प्रमाणित होगा जब आप इसके आद्य प्रवर्तक बनेंगे। जिस प्रकार सूर्य के उदित होने में पूर्व दिशा का उदयाचल निमित्त मात्र है सूर्य तो स्वयं उदित होता है, उसी प्रकार आपकी गोद में उदित होने को आतुर सूर्य पुत्र भी अपनी ही सत्ता में झूलते हुए आपके नैमित्तकपने को प्राप्तकर गौरव अनुभव करेंगे। इस परम्परा से ही धर्म टिकता है और कर्म भी। धर्म और कर्म की यह समष्टि ही सृष्टि है, इस सृष्टि को आलोक दो। हे आर्यश्रेष्ठ! इस सृष्टि को बाहुबल दो, अन्यथा आपकी स्वाभाविक गंभीरता से यह अकर्मण्यता का पाठ सीखेगी, अन्य कुछ नहीं। हे युग के उन्नायक! अपनी ऊर्जा की संचेतना से इस भारतखण्ड को मथ दो ताकि इस समूचे ब्रह्माण्ड में कल्पकाल तक आपकी ऊर्जा घुमड़-घुमड़ कर तीव्र चक्र सी प्रवर्तक बन इसमें आन्दोलित होती रहे। हे दूरद्रष्टा! यह सब आपको समझाने का उपालम्भ नहीं किन्तु अपने कर्त्तव्य से मुक्ति पाने की यह राह है, ताकि आगामी विश्व नाभिराज को कर्त्तव्य विमुख न कह सके। मुझे विश्वास है कि आप जैसा महामनीषी इस लोक को गुरुजनों के वचन उल्लंघन का अविनीत पाठ नहीं पढ़ा सकता, फिर भी आपकी स्वीकारता की प्रतीक्षा के उपरान्त ही मेरा यह मनः भार हल्का होगा। इसलिए हे प्राज्ञ! कुछ कहो, मध्यस्थता भी मध्य स्थित प्रचण्ड सूर्य की तरह ताप देने वाली होती है, इसलिए मेरे उर के ताप को दूर करो! अस्तु! और तभी एक क्षण पलक बन्द कर अन्तस् का अवलोकन किया कि, भव्य पुण्डरीक आनन पर मुस्कान फैल गयी, जिसे देखते ही पितृदेव का मनः सन्ताप दूर हो गया और स्वीकारता की एक अखण्ड ध्वनि ओम् ओम्.....ओम् समूचे लोक में पल भर में फैल गयी। यह एक मुस्कान ही पर्याप्त थी, उस महासमुद्र को तेरह लाख पूर्व तक बाँधे रखने के लिए। **लोक व्यवहार की स्वीकारता ही एक आत्मकल्याणी के लिए महाबन्धन है।** यह स्वीकृति पिता के वचनों की चतुराई से आयी; प्रजा के उद्धार की इच्छा से आविर्भूत हुई; मैं नहीं मानता। यह मुस्कान से स्वीकृति अपने अवधिज्ञान से चारित्रावरणकर्म की अलंघ्य स्थिति को देखकर हुई; मैं

नहीं मानता, यह स्वीकारता के स्वर क्या एक नियति थी; मैं नहीं जानता, पर इतना जानता हूँ कि तात्कालिक भावुकता से दूर आत्मार्णव में से यह लहर ऊपर तक आयी जो उसी समुद्र की थी क्योंकि बाहर की छोटी-छोटी हवाओं से समुद्र नहीं मचला करते। वो तो अपने ही उपादान से उमड़ते और घुमड़ते रहते हैं क्योंकि यह उसका स्वभाव है जो दूसरों के द्वारा अनुलंघनीय है।

तभी महाराज नाभिराज, इन्द्र की अनुमति से सुशील, सात्त्विक और सुन्दर दो कन्याएँ जो कि कच्छ और महाकच्छ की बहिनें थी, परिणय स्नेह में बाँध कर कर्त्तव्य मुक्त हो निश्चिन्त हो गए। अश्व, गज और पक्षियों की सवारी से युक्त देवता गणों ने आनन्दोत्सव को बढ़ाया। विद्याधरों और गन्धर्वों से राजमहल भर गया। किन्नरियों की नुपुरों से झंकृत ध्वनि से वर्षों का सोया वह कामदेव जाग गया। काहल पटवादकों पे अंगुलि ताड़न की धक् धक् ध्वनि ने कन्याओं की धड़कन को बढ़ाया। उस नारी युगल ने विशाल हस्ती को स्तम्भित कर लिया और प्रचुर काल तक यह मोद निराबाध बढ़ता रहा। यशस्वती और सुनन्दा में रत युवा वृषभ ने मर्यादित आचरण किया और तृतीय पुरुषार्थ की फलश्रुति में यशस्वती से प्रथम चक्री भरत को आदि लेकर सौ पुत्र और ब्राह्मी कन्या को प्रसूता तथा सुनन्दा से उन्होंने प्रथम कामदेव बाहुबली और सुन्दरी पुत्री को पाया। हिमवान् पर्यन्त से समुद्र पर्यन्त फैली वसुन्धरा का स्वामी प्रथम चक्रवर्ती भरत के नाम से ही इस भूमि का नाम 'भारत वर्ष' पड़ा। तब एक दिन भगवान् वृषभदेव जब सिंहासन पर सुख से विराजमान थे, कि सुन्दर आकृति पर सौम्य हाव-भावों वाली दोनों पुत्रियाँ पिता के पास आयीं और उन्हें प्रणाम किया। पिता वृषभ ने दोनों पुत्रियों को उठाया और अपनी गोद में बिठा कुछ देर क्रीड़ा कर कहा हे नम्र बालाओ। आप लोग शील और विनय से शोभित सरस्वती और कीर्ति की लक्ष्मी समान हो। अनेक गुणों से युक्त होने पर भी यदि विद्यागुण नहीं है, तो सब कुछ कागज के पुष्प सम निर्गन्ध होता है। यह विद्या, यशः प्रदाता, परम कल्याणी और मनुष्यों का प्रथम आभूषण है। यह विद्या ही महाबल है, परम मित्र है और विपत्तियों में सहायक सखी है जिस प्रकार रत्न को तराश-तराश कर अनेक पहलुदार बनाया जाता है तो वह अतिशय कान्तिमान् और कीमती हो जाता है, इसी प्रकार अनेक विद्याओं से युक्त शील, विनय, क्षमा आदि गुण और अधिक शोभित होते हैं। उचित समय पर पुत्र और पुत्रियों को समुचित विद्या देना माता-पिता का आद्य कर्त्तव्य है। अच्छे संस्कारों से युक्त

पुत्री ही उभय कुलवर्धिनी होती है। तभी भूरि-भूरि आशीषों से पुत्रियों का चित्त प्रसन्न कर अपने अन्दर बैठे श्रुत देवता को 'सिद्धं नमः' के मंगलाचरण पूर्वक स्वर्ण पट्ट पर लिखा। प्रभु वृषभ के द्वारा यह सिद्ध मातृका जो स्वर और व्यञ्जनमय है, सिद्ध वर्ण बन गए और यह आम्नाय तभी से पुनः स्थापित हो गयी। प्रभु ने अपने दाहिने हाथ वर्णमाला के अकार आदि हकार पर्यन्त तथा विसर्ग, अनुस्वार, जिह्वामूलीय और उपध्यमानीय इस अयोगवाह सहित शुद्ध अक्षरावली को पुत्री ब्राह्मी को सिखाया तथा बांये हाथ से इकाई, दहाई आदि स्थानों के क्रम से गणित शास्त्र को सुन्दरी पुत्री को सिखाया। प्रभु के बांये हाथ से अंकों के लिखने के कारण ही **अंकानां वामनो गतिः** यह आम्नाय चल पड़ी। व्याकरण, छन्द और अलंकार शास्त्र ही वाङ्मय कहलाता है। इस वाङ्मय से अलंकृत दोनों पुत्रियाँ साक्षात् सरस्वती की तरह प्रतिष्ठित हो गयीं। पश्चात् पुत्र भरत को स्वयंभू वृषभ ने कहा- हे प्रथम नरेश्वर! आप व्यवसाय में समुन्नति का मूल यह अर्थशास्त्र सुनो। सुदृढ़ शासन व्यवस्था के लिए राजनीति शास्त्र सुनो। सभी विद्याओं में पारगंत पुरुष ही इस संसार की रंगभूमि पर सफल होता है। विद्यावान् पुरुष अरण्य में असहाय नहीं होता। दुनियाँ में शत्रु और मित्र नहीं होते पुत्र! वे तो बनते हैं हमारे अपने व्यवहार से। इसलिए एक कुशल शासक के लिए दण्डनीति का ज्ञान परमावश्यक है। इसके अतिरिक्त मल्लग्राह, युद्ध, चक्र, धनुषों का प्रारोहण विधान, नृत्यविज्ञान आदि विद्यायें भी सीखो। भरत के अनुज अनन्तविजय पुत्र के लिए वास्तुशास्त्र, चित्रकला आदि विद्याओं का उपदेश मिला। पुत्र बाहुबली ने कामशास्त्र, सामुद्रिक ज्ञान, आयुर्वेद आदि शास्त्र सीखे। इस प्रकार प्रभु ने समस्त वत्सों के लिए बिना भेदभाव के गोदुग्ध की तरह विद्या पान करा सदा के लिए तुष्ट कर दिया। अपने इष्ट पुत्रों और पुत्रियों से घिरे स्वयंभूदेव ज्योतिष्मान् चन्द्र की तरह जो कि अनेक नक्षत्रों और तारों से घिरा हुआ हो, ऐसे लगते थे। अपने पुत्रों के अतुल पराक्रम, वैभव, राजमान्य सुख, सौभाग्य और लावण्य को देखकर किस पिता का चित्त खुश नहीं होता?

कल्पवृक्षों के अभाव से दुःखी प्रजा के सामने नित नए संकट उपस्थित होने लगे। स्वभाव से अत्यन्त भोले प्राणी, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के ज्ञान से प्रायः परेशान रहते। तभी एक दिन प्रजाजन नाभिराज के पास आकर अपने दुःखों को कहने लगे। नाभिराज ने समस्त प्रजा को वृषभकुमार के पास भेजा। प्रजा ने

वृषभकुमार को अपनी अन्तर्वेदना बतायी। तब भगवान् ने पूर्व और अपर विदेह की स्थिति को अपने ज्ञान में देखा। उसी स्थिति के अनुरूप यहाँ कर्मभूमि का वर्तन कराने के लिए वृषभकुमार के स्मरण मात्र से इन्द्र स्वयं यहाँ उपस्थित हुआ। सर्वप्रथम इन्द्र ने वृषभकुमार की आज्ञा से अयोध्यापुरी के मध्य में जिन-मन्दिर बनाया और इस मंगल कार्य के उपरान्त अवन्ती, सुकोशल, अंगवंग आदि देश, नदी, नहर, वन, खेती और ग्राम के सुनियोजित बँटवारे किए और नामकरण किया। पश्चात् वृषभकुमार ने प्रजाजनों के लिए असि, मषि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प ये छह कर्म आजीविका के लिए बतलाये। गुणों के अनुरूप कार्य करने से क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र तीन वर्ण की स्थापना की। उनमें जो शस्त्र धारणकर आजीविका करते थे वे क्षत्रिय कहे गए, जो खेती, व्यापार तथा पशुपालन आदि के द्वारा जीविका करते थे वे वैश्य घोषित किए गए और जो उनकी सेवा-सुश्रुषा करते थे उनको शूद्र कहा गया। वर्ण व्यवस्था से सब कुछ बिना दोष के प्रवृत्त हुआ। विवाह, जाति सम्बन्ध और व्यवहारिक अन्य कार्य भी भगवान् आदिनाथ की आज्ञा से सुनियोजित तरीके से चले। प्रजा जनों के लिए इस कर्मयुग का प्रारम्भ आषाढ़ मास के कृष्णपक्ष की प्रतिपदा के दिन किया गया, इसलिए भगवान् प्रजापति कहलाने लगे। इस प्रकार षट्कर्मों के कुशलतापूर्वक परिपालन से जब प्रजा सुख से रहने लगी, तब श्री वृषभ का राज्याभिषेक किया गया जिसे धूमधाम से देवों, विद्याधरों और कुलांगनाओं ने मिलकर मनाया। पश्चात् वृषभ राजा ने हरि, अकम्पन, काश्यप और सोमप्रभ इन चार भाग्यशाली क्षत्रियों को बुलाकर उनका यथोचित सम्मान कर उन्हें क्रम से हरिवंश, नाथवंश, उग्रवंश और कुरुवंश का राजशिरोमणि बनाया तथा कच्छ, महाकच्छ राजाओं को अधिराज पद दिया। मनुष्यों को इक्षुरस संग्रह का उपदेश दिया इसलिए वे इक्ष्वाकु कहे गए। कुल-वंशों का विभाजन संचालित किया, इसलिए आप कुलकर कहलाये। युग की आदि में प्रजा को सुखपूर्वक आजीविका बतायी, नगर, ग्राम आदि बनवाये इसलिए आप विधाता, विश्वकर्मा, स्रष्टा कहे गए। ऐसे भगवान् वृषभदेव ने युग की आदि में इस विश्व का संचालन अपनी प्रज्ञा से किया और समुद्रान्त तक फैली सती सी इस महाधरा का शासन किया और सभी को अनुशासित किया।

❑❑❑

13. महा निष्क्रमण : एकाकी यात्रा

तभी वहाँ ऊर्ध्वलोक की उच्चतम शाखा पर बैठा एक सम्यक् द्रष्टा स्वयं भोगों में लिप्त होने पर भी एक दृष्टि में ही विश्व की व्यवस्था को भी देख रहा है। कहाँ पर कौन-सा युग चल रहा है और कहाँ अब क्या आयेगा? यह विभाजन भी उसकी प्रज्ञा में है। उसे ज्ञात है कि इस भरतक्षेत्र में अब कर्मभूमि का आरब्ध हुआ है और एक ब्रह्मांश इस भूवलय पर अवतरित हो चुका है। जन्म और जन्म से पहले और जन्म के बाद के सारे कर्त्तव्य मैंने किए। आज वह लक्ष-लक्ष जीवों का उद्धार करने के लिए कटिबद्ध है। राज्याभिषेक हुआ है और राजा के योग्य सभी कर्त्तव्यों का निर्वाह भी। प्रजा को, पुत्रों को, पुत्रियों को उन्होंने पढ़ाया, ज्ञान, विज्ञान, कला कौशल में निपुणता भी दी। सराग अवस्था के योग्य कार्य को कृषि आदि कर्म को सिखाकर अपनी विराट-प्रज्ञा का परिचय दिया। कल्याण के भावों से ओत-प्रोत प्रजाजनों के दुःख का निवारण उनकी आजीविका से होता है, इसी विचार से उन्होंने जीवों को दुःख से उबारा, पर इस कायिक दुःख से मुक्त होना कोई सच्चा सुख नहीं। सुख तो समीचीन पथ के ज्ञान और उसके अनुरूप आचरण से प्राप्त होगा। आज यह मुग्ध जनता इस आर्यावर्त में धर्म क्या है? सम्यक् सुख कहाँ है? इन विचारों से भी उन्मुक्त है। जब तक कोई चेता स्वयं प्रबुद्ध हो आचरण नहीं करेगा तब तक इन स्वाभाविक भोले प्राणियों की बुद्धि स्वतः सोचने से दूर रहेगी। कर्मभूमि का आचरण करना तो ये सीख गए पर धर्म का आचरण कब उद्भूत होगा? इन नाभेय महाराज को क्या यही अपना पूर्ण कर्त्तव्य लग रहा है? क्या महाराज ऋषभ यह सोचते हैं कि मैं इस तरह प्रजा का पालनकर उन्हें दुःख मुक्ति का पाठ पढ़ा रहा हूँ। नहीं, यह तो औपचारिक प्रबोधन है। धर्म का सही बोध तो उन्हें स्वयं चरितार्थ करके सिखाना होगा। बीस लाख पूर्व का कुमार काल बीत गया है और त्रेसठ लाख पूर्व का दीर्घकाल इस पृथ्वी का उपभोग करते बीत चला, पर ये प्रभु स्वयं निश्चिन्त हैं।

देख रहा हूँ कि अभी भी ये आनन्दित हैं मदमस्त हाथियों को दुलारने में, चंचल घोड़ों की तीव्रगति में, अपने पार्श्व में बैठी वनिता विलासनाओं में, माण्डलीक राजाओं से अर्चित पद कमलों की पराग में, सम्बोधन की सहज धारा में, स्वराजत्व की एक अपूर्व अस्मिता उनके चेहरे पर खिल रही है। अनवरत सुखों की ऐन्द्रिय लिप्सा में आमूलचूल अवगाहित। अहो! लख रहा हूँ भोगों का सुख कितना उत्कट और कितना अभीप्सित होता है। विषयों के तदाकार परिणमन में विषयी सुधबुध भूल जाता है। **अत्यधिक मनोवांछित सुख की सहज प्राप्ति भी सम्यक्-सुख की अवभासना नहीं होने देती।** उस अपूर्व सुख की विचार परिणति की लहर भी आज निस्तब्ध है, त्रिज्ञान के चिदार्णव में। प्राक्तन संस्कार की अनिल यहाँ तक पहुँचने से बाधित है। मोह की यह प्रबलता अवर्णनीय है।

हाँ, यह ठीक होगा, विश्व की इन सत्ताओं में क्षणभंगुरता का ज्ञान कराने का यह अच्छा उपाय है। नीलाञ्जना की आयु कुछ ही क्षण शेष है। स्मरण मात्र से प्रभु के चरणों में आगत उस अंगना को राजमहल ले जाया गया। राज दरबार में प्रभु उपस्थित हैं और नृत्य प्रक्रम का प्रारम्भ हुआ। नर्तकी विलीन हो गयी और नव नर्तकी तत्क्षण उसी कला में लीन हो गयी। प्रभु ऋषभ नृत्य देख रहे हैं। पर आज नृत्य को रोकने का कोई इशारा नहीं, बहुत देर हो गयी। नृत्य के अनुभावों के अनुरूप मानसिक-कायिक-वाचनिक व्यापार भी नहीं। कुछ ही देर बाद नर्तन रुक गया, पर प्रभु उसी मुद्रा में मानो कहीं दूर चले गए और पार्थिव व्यामोह से पार वो देख रहे हैं, इस आत्मा के इस संसृति में कर्मकृत अपूर्व नृत्य। बहुत देर हो गयी स्वामिन्! आपकी निश्चिन्तता निश्चेत सी लगने लगी है और सहसा नयन बन्द हो गए। इन्द्र की तरफ देख प्रभो मुस्कुराये और मन ही मन कहा हे वज्रपाणि! मैं अब पात्रपाणि बनूँगा। नीलाञ्जना के नव रसों के विलोकन से विलक्षण अब नवचेतन रस का पान होगा। आज मेरी निद्रा भंग हुई। विगत की सभी क्रीड़ा देख चुका हूँ।

ये माता-पिता-भाई-बन्धु-पुत्र-पुत्रियाँ सब अपने-अपने परिणमन में परिणत हैं। यह मेरा व्यामोह जो मैं इन्हें अपना मान आनन्दित होता रहा। हमारे भोग्य, उपभोग्य की सामग्री हो अथवा सागर तक फैली वसुन्धरा हो, मैंने ही तो

इसे अपना मान रखा है। क्या यह चपला लक्ष्मी किसी की इस संसृति में सदा सखी रही है? भोगभूमियों के वे सुख भोगने वाले भोक्ता सब चले गए, यह भोग्य पदार्थ किसके हुए ? अशाश्वत और अविश्वसनीय इस जगत् को मैंने क्या भोगा? कौन-सा आनन्द है जो चिरकाल तक स्थायी रहा। ये महल, उद्यान, वस्त्र, दिव्यभोज, अलंकार सामग्री से कब मुझे संतुष्टि हुई? प्रत्युत प्रतिपल और-और चाह बढ़ती गयी। इन्द्र की सब सम्पदा है तो परायत्त हुई इसलिए यह सुख का कारण नहीं और यदि मेरे सुकृत के विपाक का यह परिणाम है तो भी वह सदा रहने वाली नहीं। पुष्प की गन्ध उड़ रही है यह मोही को नहीं दिखता किन्तु वह पुष्प ही दिखता है और जब निर्गन्ध हो जाता है तो वही उसको दुःख पहुँचाता है, दुःख की प्रचुरता में मैं डूबा और इतना दीर्घकाल सुखाभास का आभास नहीं। संस्कार या मोहिनी का इस मेदिनी पर अचूक प्रभाव है।

जब ये मात-पितु मृत्यु को प्राप्त होंगे तो मुझे दुःख अवश्य होगा और ये मृत्यु को प्राप्त न हों, यह तो असम्भव है। फिर यह संयोग जो कि वियोग की योनि है, सुख की योनि कैसे हो सकती है? स्वतत्त्व की शरण छोड़कर पर भ्रमणा में शरण की अनुभूति मिथ्या है। वह नीलाञ्जना मेरे सामने-सामने चली गयी। कितना सुन्दर रूप था, कितनी रम्य मुस्कान थी उसकी, सब कुछ विलीन हो गया एक क्षण में। मैं यहाँ उसको एक क्षण भी पकड़ न सका। ऐसी कितनी और-और ललनाओं ने मेरा चित्त अनुरंजित किया पर मैं अपने में देखता हूँ तो कहीं कुछ रखा हुआ नहीं दिखता, जिसे देख मैं स्वयं को सुखी महसूस करूँ, सिवाय उन विलासों की स्मृति के और यह स्मृति भी चिरस्थायी नहीं। यदि यह स्मृति भी सुख को देती तो भी उचित था किन्तु इस स्मृति से एक अलग मूर्च्छा उत्पन्न होती है, एक अलक्ष्य नीरसता मानो कि मैं सब कुछ हार गया और निराश हो स्मृति मात्र के स्वप्नों में जी रहा हूँ। आयु कर्म के इस सत्य खेल से बेखबर प्राणी शरण्य के विवेक से दूर रह बहुमूल्य मनुष्यता का आकलन नहीं कर पाता।

देख चुका हूँ अपने दिव्यज्ञान से कि, यह जीव ही कभी पुत्र होता है तो कभी पत्नी, कभी मित्र तो कभी पिता। मोह की यह लीला अनवरत इस

चतुर्गति के मंच पे जीव खेल रहा है, दूसरों को लुभाता है, दूसरे से लोभित होता है। एक-दूसरे के संयोग की अनुकूलता में हर्षित; तो उसी संयोग की प्रतिकूलता में खेद खिन्न हो बैर धारण कर लेता है और भव-भव उसी अग्नि को बुझाने में चले जाते हैं। चारों गति में यह भ्रमणा और भ्रान्ति जारी है।

जीव जैसे कर्म करता है वैसा ही फल स्वयं अकेला भोगता है। अकेला ही पाप करता है, तो अकेला ही नरक में जाता है, तिर्यंच बनता है। अकेला ही पुण्य करता है, तो अकेला ही भोगता है। अकेला ही चक्री बनता है, अकेला ही कामदेव, अकेला ही नारायण और अकेला ही तीर्थङ्कर। अकेला ही स्वर्गीय सुख भोगता है तो स्वयं ही मोक्ष सुख भी वरता है। जमाने को अपनाना चाहता है, साथ-साथ मरने की कसमें खाता है, पर कौन किसका साथ देता है? अपने-अपने परिणामों से सब पृथक्-पृथक् आयु बाँधते हैं और उसका उपभोग करते हैं।

साक्षात् पृथक्-पृथक् दिखने वाले इस परिवार में, साक्षात् विपरीत स्वभाव वाली इस देह में एकत्व का भान और तदनुरूप परिणमन में हर्षविषाद करता यह जीव जागता हुआ भी सोता रहता है। सम्यग्ज्ञानी भी इस जागृति से इतनी दूर जा सकता है तो मोह के निबिड़ अन्धकार में डूबे इन प्राणियों को कुछ नहीं दिख रहा हो, इसमें उन बेचारों का क्या अपराध?

और कच्चे दुर्गन्धित गीले घड़े में बैठा यह आत्मा भी क्षण-क्षण बाहर निकल रहा है, पर उसका अवभासन नहीं, प्रत्युत काया को अपनी मान सुख-दुःख को महसूस करता है। क्षण-क्षण क्षरित इस काया में अक्षय सुख की अवमानना, पुष्ट और बलिष्ठ बनाकर सुखी बनने की धारणा निश्चित ही अज्ञान की बलिहारी है। अपनी देह में अनुराग छोड़ परकीय देह को भी अपनी अतृप्त क्षुधा के आहरण में लगा लेता है। चर्म मात्र मक्खी के पंख की पतली-सी परत से ढकी अत्यन्त बीभत्सता और अपवित्र सामग्री की एकत्रता को अपनी मान मदमस्त हस्ती-सा अविवेक कृत्य करता है और हर्षित होता है।

कभी भी मन-वचन-काय के स्पंदन कहूँ या फंदन कहूँ जिनमें बंधा जीव का एक-एक प्रदेश इस उलझन से उबर नहीं पाया और मोह कषाय तथा क्रियाओं की विभिन्नता से पुण्य-पाप के चक्र में झूलता रहता है। इन कर्मास्रव

को जानकर, मैं शीघ्र इनसे बचने का प्रयास करूँ तभी यह मनोभावन कार्यकारी है अन्यथा चिंतन मनन मात्र से क्या?

जब तक समीचीन ज्ञान नहीं, जब तक अणुव्रत और महाव्रतों का पालन नहीं तब तक संवर कहाँ? इस संसार के कारणों से मुक्ति कहाँ ? गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय जिसमें हों, ऐसे चारित्र को धारण किए बिना इस संसृति में दुःखों का अभाव नहीं और यह तब तक सम्भव नहीं जब तक विषयों से विरक्ति न हो। जब तक इस परिकर के बन्धन से ही मुक्त नहीं तो अन्तस् के सुदृढ़ बन्धन से मुक्ति का भाव क्या करेगा?

इस दुर्धर चारित्र के अनुष्ठान बिना कर्ममल्ल हार नहीं सकता। अनन्तकाल से इस जीव पर विजेता बना, यह कर्म-शत्रु मन और इन्द्रियजय के बिना जर्जरित हो धूलिमात्र कैसे बनेगा? समय पाकर तो अपना बल दिखा यह चला जाता है, पर अपनी सेना को छोड़ जाता है और उसी से जूझता यह जीव सर्वहारा-सा खड़ा रहता है। अब मन की हर बात मानने से दूर रहकर इस शरीर को भी निस्पन्द बना स्वरूप में लीन होकर इस कर्म को जीतूँगा।

इधर यह रज्जू पर्यन्त अपनी कटि को फैलाये और उस पर दोनों हाथ रखकर जिसने ब्रह्मलोक को छू लिया। चौदह राजू की दीर्घता को लिए यह लोक राक्षस सा अपने में अनन्तानन्त जीव जन्तुओं को डुबोये सदा से अपनी विजय पर हँस रहा है। उस विजय की अट्टहास से इतना झाग, इतनी वायु और इतना जल उसके मुँह से गिरा कि वह योजनों मोटे वातवलयों का रूप धारण कर गया।

जिसने अपने दोनों पैरों को फैलाकर स्वयंभूरमण समुद्र को छू लिया। जिसके दोनों पैरों के बीच जीव इतने संतप्त हैं और दुःखी है कि उसका कोई उपमान नहीं। एक पैर से दूसरे पैर तक फैले जाल सप्त पृथ्वियों का रूप ले चुके हैं। जिसके चारों ओर कज्जल लेप की निगोद आत्मायें उसकी गोद में से परित्राण चाहती हैं, पर विफल हैं। ऐसे इस राक्षस से अनिर्लिप्त और उसके मस्तक पर विराजमान वे आत्मायें धन्य हैं, जहाँ इस राक्षस की दुर्गन्ध का ग्रहण नहीं।

उस भीमकाय राक्षस की पदचाप में दबा कदाचित् कोई आत्मा बाहर

निकलता है तो कुछ श्वास बढ़ा पाता है। उसके पदों के दबाव में इतनी घुटन कि वहाँ वह एक श्वास में अठारह बार मर जाता और अठारह बार जीवन पाता था। अनन्त जीवों का पिण्ड रूप आहार और क्रिया से छुटकारा मिलता है, तो पृथ्वी आदि काया को अपनाता है। फिर वनस्पति में कुछ जीवन जीकर, त्रसत्व को पाता है। यहाँ कुछ हलन-चलन आती है, पहले स्पर्श मात्र से जीवत्व का भान हो कर्मफल भोगता रहता है। शनैः शनैः यह जीव रसत्व की अनुभूति, सूँघने की शक्ति और इस जगत् को देखने की योग्यता भी पाता है और शब्द या ध्वनि की झंकार सुनकर चौंक उठता है, पर मन बिना हिताहित विवेक से विकल ही रहता है। कदाचित् मन मिला तो अत्यन्त रुद्र कार्य करने वाला तिर्यंच हुआ और तीव्र अशुभ लेश्याओं से नरकवास को आवास बनाता है। तीव्र दुःखों से पीड़ित एक-एक अणु जीव का जैसे तैसे आयु पूर्ण कर छुटकारा पाता है तो कभी दुर्लभता से मनुष्य जन्म पाता है। पर मिथ्यात्व और तीव्र कषाय से मुक्ति कहाँ? कदाचित् उत्तम गोत्र पाता है, कुल पाता है पर धन-वैभव से हीन रहता है। कदाचित् वो भी मिल जाये तो पूर्ण बलिष्ठ इन्द्रियाँ नहीं पाता। कभी इन्द्रिय पूर्ण भी हों तो अनेक रोगों से युक्त शरीर मिलता है। कदाचित् थोड़ा जीवन निरोग रहकर हर्ष से बिताता है तो अचानक रोगों की आक्रामकता से अत्यन्त दुःखी होता है। दाद-खाज, रोग रहित शरीर है पर आयु की अल्पता का दुःख, आयु पूर्ण मिले तो सदाचार के साथ जीवन बिताना अतीव दुष्कर है। कदाचित् व्यसन से रहित भी हो जाय पर परम गुरु का योग नहीं। दैवयोग से वह भी प्राप्त हो तो उनकी संगति का क्षण कहाँ? उनकी वाणी सुनने का लाभ महाभागी को ही है। उससे भी कठिन है उनकी प्रसन्न दृष्टि, कर कमलों की करुण छाया, उससे भी दुर्लभतर है, उनका आज्ञा देना, बहुत कठिन है, फिर उस आज्ञा का प्रसन्नता से पालन होना। समझो जगत् में सबसे बड़ा खजाना मिल गया, यदि सद्गुरु की देशना में डूबकर साम्य ग्रहण हो। सम्यग्बोधि का लाभ हो। उनके इशारे से चारित्र का ग्रहण हो संसार की विपरीत परिस्थितियों में भी उस चारित्र का आजन्म उत्साह से अनुपालन अति दुर्लभ है। कषायों से रहित सदा शुक्ललेश्या से समत्व की आराधना नितान्त कठिन है और निकट भवितव्यता हो, तब यह सब अनाकांक्ष वृत्ति से हो।

इसीलिए यह मनुज जन्म देवों महेन्द्रों के लिए भी आकांक्ष्य है। फिर भी दुर्लभतम इन अनेक संयोगों को पाकर इन विषयभोगों की लिप्सा में जीवन बिता देना मानो राख के लिए रत्नों की भस्म बनाना है या धागे के लिए हार को तोड़ना है। इस मनुजत्व की अन्तिम दुरन्त अलब्धता है महानिर्वाण।

वह निर्वाण कुछ और नहीं स्वकीय धर्म है, जो वस्तु का निरापेक्ष स्वभाव है। आत्मा की स्वतन्त्र उपलब्धि है। पर वह धर्म बहुत बाद में प्राप्त होता है। पहले क्षमा आदि दशधर्म को आत्मसात् करना होता है और वह तभी सम्भव है, जब समीचीन दृष्टि, ज्ञान और चारित्र की लीनता हो, पर यह तभी सुलभ है, जब दयायुत अहिंसा का भाव स्व-पर दोनों के लिए हो। इन अनेक परम्पराओं से गुजरना होगा, सभी से अपने आत्मा को शृंगारित करना होगा। सभी धर्म हैं, एक में विलीन होकर ही दूसरे की उपलब्धि होती है। अब यह अनुचिन्तन मेरा अनुवर्तन करे।

इसलिए मैं.....और इधर सुदूर तक यह मनोभाव व्याप्त होता हुआ लोकान्त तक पहुँच गया। उन अंधियारी गलियों में भी जहाँ अन्य जीव तो क्या देव भी उसे पार करने में असमर्थ होते हैं।

अरुणवरद्वीप के चारों ओर योजनों तक प्रसरित उन तमस्काय मार्गों से इस आर्यद्वीप में हंसों की धवलता से रंगित वे अनेक देवगण आ गए, जिन्हें देवों में पूजनीयता प्राप्त है, जो इस भव के बाद मुक्ति वरण करेंगे। जो देवर्षि कहे जाते हैं। निरन्तर बारह भावनाओं में रत रहते हैं और जो उन भावनाओं को भाकर वन गमन को तैयार होते हैं, ऐसे महानिष्क्रमणशीलों की प्रशंसा कर गद्गद होते हैं। श्रुत पारगामी हैं, विषयों से विरक्त हैं। ललनाओं के ललित अवलोकन भी जिनके दृष्टि पथ में क्या अन्तर्मन में भी नहीं आते। लौकान्तिक देवों की यह विश्रुति सभी देवगण जानते हैं। वैराग्य की इस अनुशंसा में किसी ने कहा भगवन्! आप इस वसुधा को अब धर्मामृत से सिंचित करें। कर्म करने का उपदेश तो आप दे चुके हैं तो किसी ने कहा-आदिम पुरुष! आपका यह विचार अनन्त जीवों के उद्धार का प्रबल सेतु बनेगा, जिस पर आरूढ़ हो भव्य जीव सम्यक् सुख प्राप्त कर सकेंगे। हे प्रजापति! इन दुरन्त दारुण भोगों से निस्तरण पाना बहुत कष्टप्रद है। मोह और काम की महावासनाओं से यह

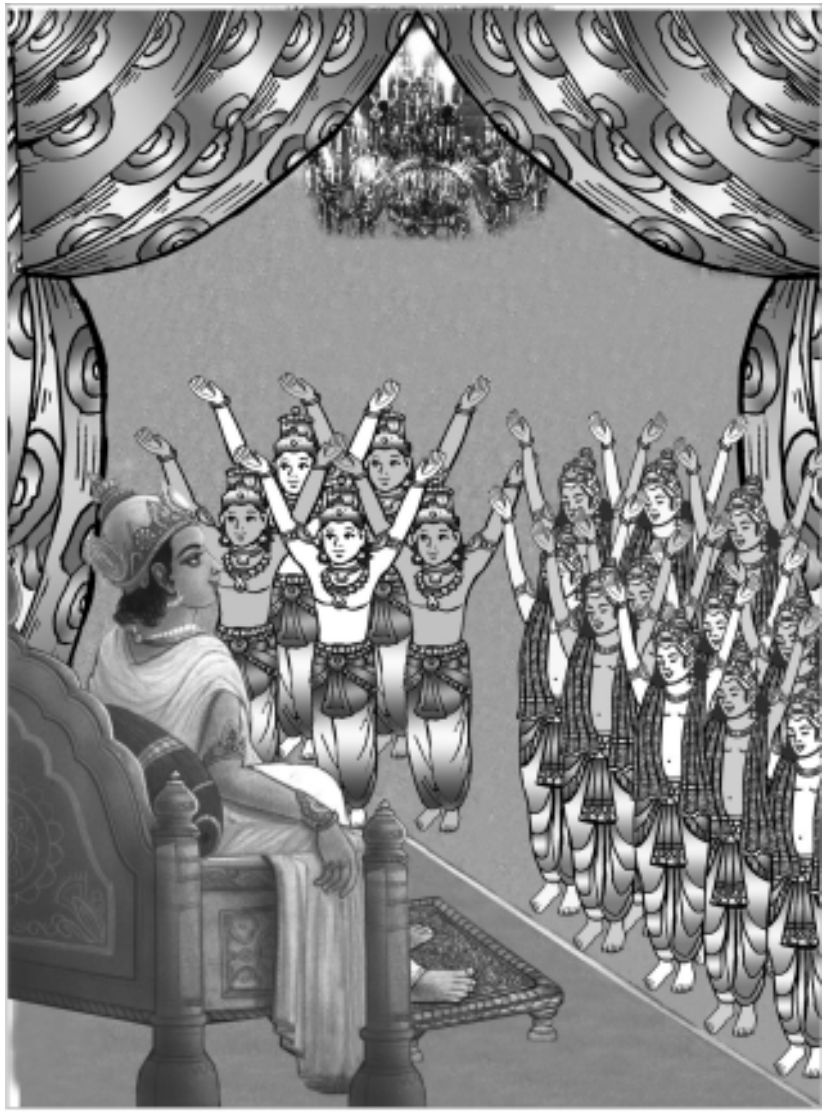

लौकान्तिक देवों द्वारा वैराग्य की अनुशंसा

जगत् जल रहा है, इसे आत्मिक बोध से शीतल करो। आप सम्यक् ज्ञाता हैं, आपका बल अजेय है। हे महाबल! आप मनोहर अंग के धारी हैं। ओ! ललिताङ्ग! वज्रसम दुर्जेयजंघा वाले आप वज्रजंघ हैं। आप मही पर महापूज्य हैं। हे आर्य! आप दिव्य श्री को धारण करने वाले हैं। हे श्रीधर! आपकी विधि ही उत्तम है। हे सुविधि! आप अब अच्युत इन्द्र अर्थात् अविनाशी नाथ हैं। हे अच्युतेन्द्र! आप वज्रसम अभेद नाभि युत हैं। हे वज्रनाभि! आपसे ही इस विश्व को सर्व प्रयोजन की सिद्धि होगी। हे सर्वार्थसिद्ध! आपकी यह पार्थिव देह चरम है, अब तक आपने इस धरा पर अवतरित हो इस वसुधा को पूत बना दिया। हे दशावतार चरम तीर्थ! आपकी यह दशा इस सृष्टि के निर्माण के लिए अलौकिक अवतरण हैं। आपके रूप अनेक हैं, आप संसार खार अपार-पार-तार-अवतार-द शा व ता र .....हैं।

इन्द्र ने कम्पित आसन की सम्भावना से महानिष्क्रमण की अतुलबेला को जाना। सर्व देव चले स्वकीय विमान यानों पे अविलम्ब आरूढ़ हो। सारा नगर आकीर्ण हो गया देव संकुलता से। तभी महाराज ऋषभ ने राजभार को पुत्र भरत को सौंपा और बाहुबली को युवराज और विभक्त महीखण्ड पोदनपुर का अधिपति। कच्छ, महाकच्छ राजाओं को भी राज्य विभक्त कर दिया और अन्य, प्रधान मांडलिकों को भी। इधर देव-समाज तप कल्याणक मनाने आया तो इधर महामहिम राजगण भरत का राज्यपट्ट देखने आये। पिता ने विभूति का सर्वदत्ति से त्याग किया और पुत्र ने उसे स्वीकारा। लक्ष्मी ने देखा कि अब तप लक्ष्मी महाराज ऋषभ को प्रिय हो गयी इसलिए यहाँ अब अपना कोई कार्य नहीं इसलिए सौत से ईर्ष्या कर स्वाभाविक स्त्री स्वभाव का परिचय दे, भरतराज की चेरी बन गयी। प्रजागण परेशान हैं, सोच-सोच कर कि यह हो क्या रहा है? लगता है अपने स्वामी कोई नया कार्य करने जा रहे हैं, इसीलिए ये देवता गण फिर से अयोध्या नगरी में आये हैं। पर सुन रहा हूँ अब ये राजभवन में नहीं रहेंगे वन में जायेंगे। पता नहीं कुछ दिन वहाँ पर रहकर फिर आयेंगे या नहीं। अपने पुत्र को इस भरतखण्ड का राजा बनाकर भरत को भरत का भारत बना दिया यह जनश्रुति दिग्दिगन्त तक फैल गयी है। महाराज ऋषभ के सभी कार्य अचिन्त्य होते हैं। शक्र भी इनके विचारों को जानने में अक्षम हैं। हम लोग तो

अपने स्वामी को छोड़ेंगे नहीं, उन्हीं का अनुसरण करेंगे, वो वन में जायेंगे तो हम भी चलेंगे। नहीं, नहीं वो गए तो फिर लौटकर नहीं आयेंगे और इस राज परिवार के कार्य भी नहीं मिलेंगे, इसीलिए पुत्र को राज्य देकर जा रहे हैं। इधर भरत स्वर्ण, गो, गज आदि प्रजाओं को बाँट रहे हैं, तो उधर ऋषभदेव सभी कुछ छोड़ चलने वाले हैं। भरत राजा के लिए सिंहासन तैयार किया गया है तो इधर ऋषभ राजा के लिए यह पालकी बनी है, देव शिल्पियों के द्वारा, क्या अनोखा वातावरण है, कहीं घूम-घूम कर कोई खुशी का इजहार कर रहा है तो कहीं कोई दुःखी भी है कि अब महाराज नाभेय हमें छोड़ कर जा रहे हैं।

अरे! देखो-देखो महाराज गृह से बाहर आये हैं। सभी को सम्बोधित कर रहे हैं, माता मरुदेवी का करुण रुदन देखो। इधर यह सौभाग्यवती मन ही मन रो-रो कर दुःख के घूँट पी रही है साथ ही सुनन्दा भी ऐसे कँप रही है, मानो कोई वज्रपात की आशंका है। माँ पूछ रहीं है ऋषभ! मेरे लाल! क्या हुआ तुझे अचानक नृत्य देखने के बाद तुझे क्या हो गया? पुत्र! तुम मेरी कोख के एकमात्र पूत थे, तुम्हीं से यह जीवन सारभूत लगता था। तुम्हें देखकर ये सारी वनितायें मुझे ऐश्वर्यवान् कहती थीं। हे वत्स! मत जाओ रुक जाओ, बताओ कहाँ जा रहे हो? कब आओगे। इन बंधुओं को कौन संबल देगा? क्या माँ की तरफ देखोगे भी नहीं एक बार पीछे मुड़ के तो देखो मेरी छाती फटी जा रही है। ऋषभ! तुम इतने कठोर कैसे हो गए? इस तमाम भीड़ को चीरते हुए प्रांगण से बाहर निकल गए कि इन्द्र ने स्वामी को हाथ का इशारा दिया और वे पालकी पे सवार हो गए। सुदर्शन पालकी की दर्शनीयता सन्तोष नहीं देती, देखते-देखते जी नहीं भरा कि प्रभु के बैठते ही ये राजा लोग सात पैंड तक ले गए, फिर विद्याधर लोग सात पैंड तक ले गए। पश्चात् वैमानिक और भवनत्रिक देव अपने कन्धों पर उस पालकी को आकाश में ले चले। इन्द्र ने भी स्वयं पालकी को ढो कर अपना देवत्व सफल किया। हजारों राजागण, क्षत्रियजन, प्रजाजन, विद्याधर साथ चल रहे हैं। देवांगनाओं के विलसित नृत्य, तपकल्याणक के मंगल पाठ, बन्दीजनों के द्वारा उच्चस्वर में जय-जयकार, नगाड़ों, कलहों, पाटलों के कर्ण भेदी निनादों से सारी दिशायें बहरी हो चली। ऐसा लग रहा है मानो आज सारा भूमण्डल एक दिशा में गतिमान है और दिशा प्रदाता का

अनुगमन कर रहा है। महारानियों ने अपनी पीड़ा को अमंगल के भय से पी लिया। भरत आदि सौ भ्रातगण बाहुबली के साथ मौन हो चल रहे हैं मानो उनको सब कुछ मालूम हो कि यह क्या हो रहा है ? पुत्रियाँ माँ को समझा रही हैं। रास्ता नहीं दिखता पर स्वतः रास्ता बन जाता है। महाराज नाभिराज स्वयं रानी मरु के साथ पीछे-पीछे चले जा रहे हैं, यशस्वती और सुनन्दा को छोड़ सभी अन्तःपुर की रानियाँ आगे जाने से रोकी गयीं और इसी कोलाहल को सहज देखते हुए वे शीघ्र ही वन में पहुँच गए।

सिद्धार्थक वन में बासन्ती छायी है। वन की मधुर-मृदु-तरल वायु ने

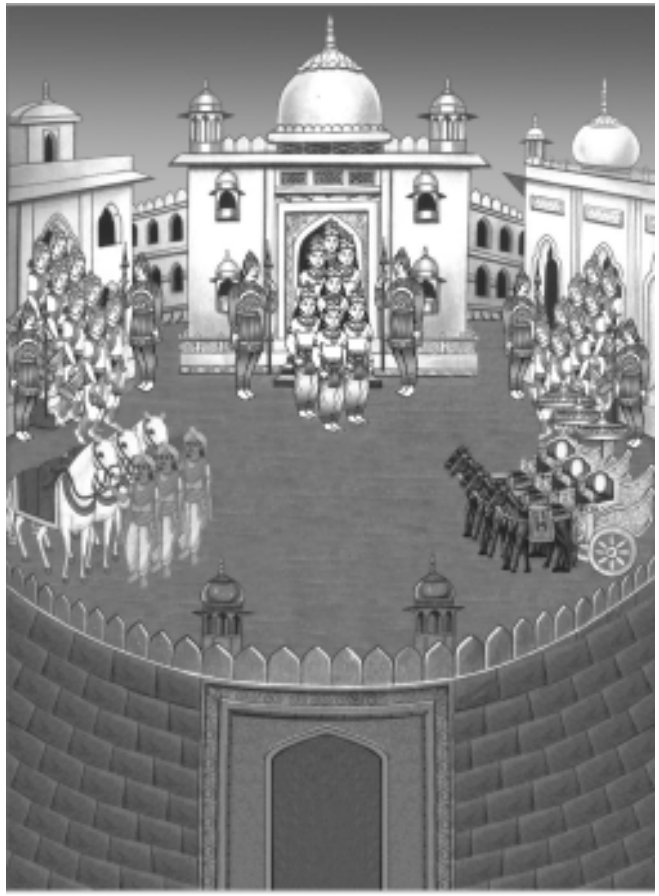

आदिकुमार का गृह त्याग

प्रभु का स्वागत किया। पहले से ही रखी एक शिला पर देव ऋषभ आसीन हुए। चन्द्रमणि से निर्मित उस शिला के उद्योत में विशुद्धि का ब्रह्मा आकर स्वमेव हर्षित हो गया। जय-जय की आवाज और पुष्पों की अनवरत वृष्टि मंगलगानों का अपूर्व सुखद वातावरण धीरे-धीरे शान्त हुआ। स्नेह बन्धन तो टूट चुके थे, फिर भी उस शिला पर बैठकर प्रभु ने सबको एक-पलक से निहारा और मौन प्रीति को चहुँ ओर बिखेर दिया। सन्तुष्ट पर, असहमत यह लोक निस्तब्ध था, देखने को इस अवतार की प्रतिक्रिया कि-तड़-तड़ टूट गया बाजूबन्द, विशाल किरीट पद रज में गिरा, वक्षःस्थल का हार गिरते-गिरते सारे उद्यान में मोतियों और मणियों से लिप गया। नीलाभ श्वेत वस्त्र अन्दर की विरक्तता से डरकर उड़ने लगा। जन-जन-परिजन और शक्रराज ने उन स्मृतियों को अपने करण्डक में संभाला।

सिद्धों की साक्षी में अपने आत्मा को साक्षी बना देवों की समक्षता में विश्व के प्रति पदार्थ को अभोग्य समझ छोड़ दिया। आज से मेरा आत्मा ही मेरा भोग है, मैं मात्र इसका भोक्ता और यह ही अवशेष है उपभोग्य के योग्य। आज से किसी भी चेतन-अचेतन तत्त्व का बन्धक नहीं, मैं निर्बन्ध हुआ और पर से मैं अबाधित। सर्व चराचर जगत् के प्रति मनसा वाचा कर्मणा मैं किंचित् भी बाधा का कारण न बनूँगा। सामायिक ही परम आचरण है, तब तक जब तक कि शिवांगना से लिप्त न हो जाऊँ।

चैत्रमास की नवमी को उत्तराषाढ़ नक्षत्र के शुभ योग में यह विचारते हुए वह जातरूप इस कर्मयुग के आदि में प्रथम प्रकट होकर, बासन्ती के रोम-रोम में एकाकार होने को उद्यत हुआ। अरुणाचल की उदित दिशा में मुख करके विराजित हैं और दोनों करों से ललाट तक लहराते कुन्तल केशों को एक साथ पञ्चमुष्टि से उखाड़ दिया मानों संसृति की वल्लरियाँ अब कभी अंकुरित नहीं होगी। ब्रह्मरन्ध्र के तेज से स्फुरित हो, आविर्भूत हुआ अपर मार्तण्ड। वे केश समेट लिए माँ ने अपने आंचल में। इन्द्र ने अपने पिटारे में और क्षीरसमुद्र में अवगाहित कर पवित्र कर दिया उनके अस्तित्व को। महाश्रमण, महाचेता, प्रथम तीर्थकर्ता आदिम जात-रूप, नैर्ग्रन्थ्य की पराकाष्ठा, निरहंकारता की असीम सीमा बन व्याप्त हो गयी। वह महाकाय पूर्ण रूप से काय के उत्सर्ग से

स्व में विलीन हो गया। आज मैं पृथ्वी पर हूँ या नहीं, मैंने भूमि का ऋण मुक्त किया और अणु-अणु की सत्ता का आदर किया ऐसा पहली बार अबोझ महसूस हुआ। आज मार्दव धर्म पूर्ण प्रकट हुआ इससे पहले यह आत्मिक काषायिक भार रहितपना अनुभूत नहीं हुआ और कायोत्सर्ग में अवगाहित होता हुआ मात्र स्वानुभूति और स्वप्रकाश परिलक्षित हो रहा है। सूर्य भी अन्तिम रश्मि को ललाट पर न्यौछावर कर अस्तंगत हुआ और समस्त परिकर स्वकीय धाम को प्रस्थान किया।

पर यहाँ पट प्रति पट आत्म अन्धकार के टूटते जा रहे हैं। न जाने कहाँ से इस देह बल को उत्सर्जित करने पर अद्‌भुत आत्मबल प्रकट होने लगा। जैसे रात्रि में औषधियाँ वन में स्वयं प्रदीप्त होने लगती हैं, वैसे ही अवधिज्ञान की सर्वोत्कृष्ट और मनःपर्ययज्ञान की विपुलमतिता सहज प्रकट हो गयी। वह शक्ति रश्मियाँ चहुँ ओर बिखर गयी कि किसी को शिरः, नासिका, अक्षि, कर्ण रोग हों और वह उस काया के इर्द गिर्द भी योजन दूर हो तो उसे सर्व शान्ति की प्राप्ति हो जाये। जिन्होंने परकीय मनःप्रणाली को जानने की किंचित् चेष्टा नहीं की इसलिए मनःपर्ययज्ञान की उत्कृष्ट लब्धि को पाया। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान सम्बन्धी सकल शक्तियाँ परिस्फुटित हुईं।

फलस्वरूप कोई भी इस आभा से अपने हृदय, श्वासादि रोग को विनष्ट कर विवेक, पाण्डित्व, प्रतिवादित्व आदि उपलब्ध कर सकता है। अष्टांग महानिमित्त के ज्ञाता आप आपो-आप हुए। विक्रियार्द्धि, चारणर्द्धि, प्रज्ञाश्रमणत्व, आकाशगामित्व ऋद्धियाँ बलवती हुई। पर इन सबका कोई प्रयोग नहीं, यही तो रहस्य है कि जब मन, वचन, काय से कुछ नहीं ग्रहण करने का संकल्प लिया है तो सब कुछ स्वतः चरणों में आ गिरता है। सारी रात देवताओं ने उत्सव मनाए और शक्तियों ने प्रभु को अपना निलय। आशीर्विष, दृष्टिविष ऋद्धि उपलब्ध हुई पर रोष-तोष से मुक्त जिनेश को उनसे क्या प्रयोजन? फलतः उन चरणों में द्वेषी-विद्वेष मुक्त होगा और कोई भी स्थावर-जंगमकृत विष प्रयोग अमृत बन संतृप्त होगा। अत्युग्र तप करने पर भी संक्लेश का अभाव, सदा भासुर दीप्त देह की दीप्तऋद्धि परकीय वचनों को और चक्रवर्ती के कटक को भी स्तंभित करने की शक्ति सहज प्राप्य है। रस, रुधिर

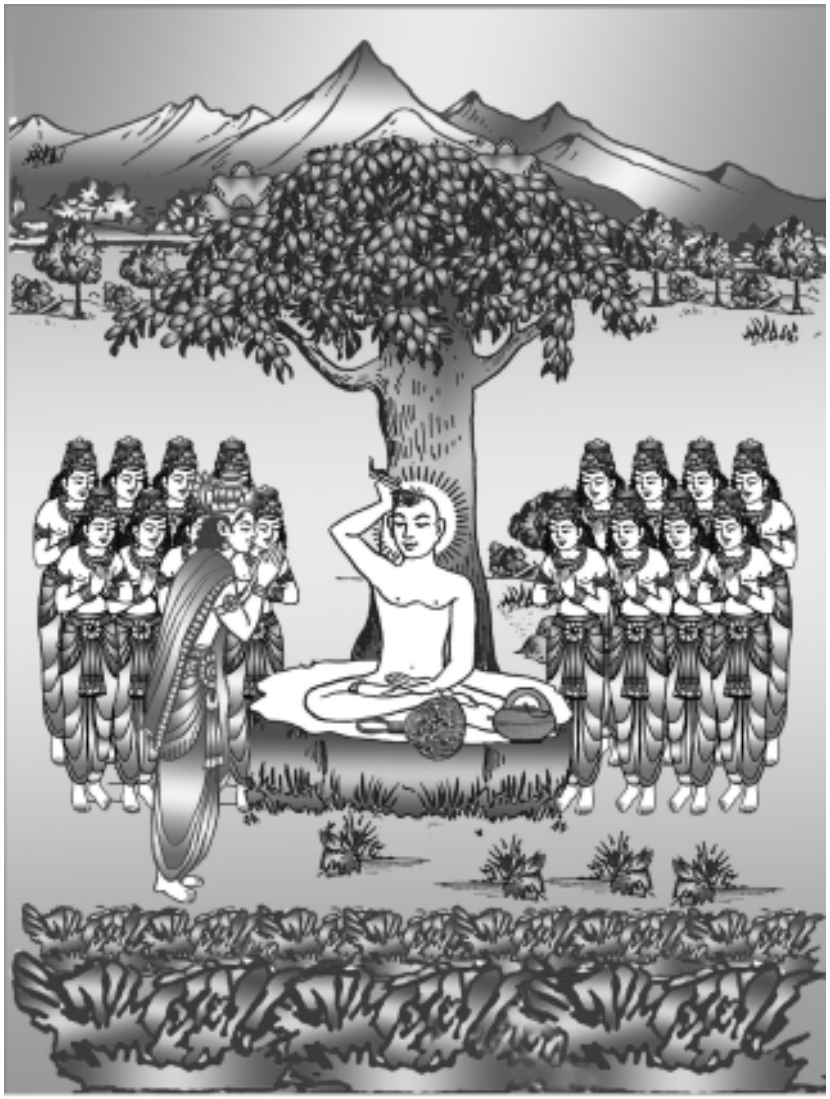

दीक्षा लेते हुए आदिकुमार

आदि धातुएँ तप्त हो शक्ति बन गयीं। तप्ततप, महातप की शक्तियों से अग्नि और जल का स्तंभन फलित है। घोर तप, घोर गुण, घोर पराक्रम, घोर-ब्रह्मचर्य की शक्तियाँ विषरोग, भय, बलिनाश, भूतप्रेत भय विनाश करने में समर्थ हुईं। सच ही तो है जो धर्म का पालन करता है, धर्म उसका पालन-रक्षण करता है। यद्यपि प्रभु की देह में रोग, भय आदि विकृतियाँ सम्भव नहीं, पर विश्व कल्याण की भावनाओं का फल कुछ विचित्र ही है। सर्वौषधि, क्ष्वेलौषधि, जल्लौषधि, आमौषधि, विष्टौषधि, ऋद्धियाँ ऐसी सुशोभित हुई मानों देह कोई औषधि का कल्पवृक्ष ही हो, जिनके स्मरण से मनुष्य, देवकृत उपसर्गों का, अकाल मृत्यु का, जन्मान्तरों के विद्वेष का, अपस्मार प्रलापन का और गजमारि रोगों और बाधाओं का विनाश क्रमशः होता है। स्वकल्याण से ही पर कल्याण संभव है, यह आप मौन रहकर कह रहे थे। मनोबल, वचनबल, कायबल ऋद्धियाँ, गोमारी, अजमारी, महिषमारी दूर करने को समर्थ हुईं। पूर्व भव में किए गए रस परित्याग तप की अनाकांक्षा के फलस्वरूप, क्षीरस्रावी, सर्पिषस्रावी, मधुरस्रावी, अमृतस्रावी ऋद्धियाँ प्रकट हो, अठारह प्रकार के कुष्ठ रोग, सभी प्रकार के ज्वर, सकल उपसर्ग और सर्वव्याधियों के विनाशन से परोपकार की उत्कृष्टता से द्रवित हो गयीं। क्षेत्रज अक्षीणऋद्धि महानस और आलय के भेद से सदाकाल जीवों को अभय देने में तत्पर हुई। नितप्रतिपल वर्द्धमान चारित्र, भय को चीरता हुआ आपकी निषद्या को सिद्धायतन बनाकर आगामी जीवों को धन-धान्य समृद्धि से परिपूर्ण करेगा तभी तो आगत नमि, विनमि ने प्रभु के चरणों में मनोवांछित फल प्राप्त कर लिया और भगवति महति महावीरत्व की जय-जय निनादों से इन्द्र स्तुति कर प्रणिपात हो गया। महाश्रमण समाधि सुख में लीन....लीन विलीन हो गया।

एक मात्र केवलज्ञान को छोड़कर सब कुछ लोट-पोट हो रहा है, स्वयं में स्वयमेव ही। यह विश्व आज क्यों इस ज्ञान में लुढ़क गया? मैं तो अनाकांक्षी हूँ इन सबका। भेद भी नहीं किया मैंने कि क्या हेय है? क्या उपादेय है? मात्र जो है सो है। अस्ति को अस्ति रूप में, नास्ति को नास्ति रूप में देख रहा हूँ। अस्ति कभी नास्ति नहीं हो सकता, नास्ति कभी अस्ति नहीं। घृणा और राग से परे प्रत्येक को लखना ही वीतरागता है, सो किसी द्रव्य को ज्ञेय बनाना

भी रुचता नहीं, मात्र आत्मा ही ज्ञाता है, वही ज्ञायक है, वही ज्ञेय है, वही ध्येय उसी की परिणतियाँ ध्यान है, वही ध्याता है, सब कुछ स्व में स्व के लिए, फिर भी प्रतिबिम्बत हो रहे हैं। मुकुरन्दवत् निर्मलचिति में सकल चराचर। स्वभाव में रहना ही समभाव है।

पर इधर ये कोई चार हजार संख्यक पुरुष भी रूपायित हो गए मेरे बाह्य रूप में। भक्ति से आपूरित हैं, पर मुक्ति से अनजाने। स्वयं नाथ हैं, स्वयं अपने स्वामी हैं पर, मुझे स्वामी मान अज्ञान से खड़े हैं और व्याकुलित हैं। उच्च वंशोत्पन्न कुलीन राजाओं को भी अन्तर्जगत् की विराटता का भान नहीं। ये कच्छ-महाकच्छ भी दीक्षित हुए हैं। दीक्षित होकर फिर किसके लिए प्रतीक्षित हैं ये ? जो इच्छाओं को तिलाञ्जलि दे निष्काम हुआ वह प्रकाम पूर्ण हुआ। मेरे साथ ये भी क्षुत् तृषित हैं, पर अधीर होते जा रहे हैं। मैं तो संकल्पित हूँ वर्षार्ध से पूर्व न हिलने को। मन इनको प्रबोधन देने के लिए करुण रस में आप्लावित हो रहा है, पर यह करुणा अभी असामयिक है। अब सम्बोधन के स्वर मुखरित नहीं होंगे। स्वयं पूर्ण हुए बिना किसको ज्ञान और क्यों ? पर कल्याण स्वयं पूर्ण होने से सहज है। करुणा का अर्थ स्वयं दुःखी होना नहीं, न ही दूसरे के दुःखों को संभालना। करुणा तो आत्म स्वभाव है। निष्काम स्वभाव में लीन होना यथार्थ कारुण्य है, अन्य सब तो महामोह की भ्रान्ति है। करुणा, दया, अनुकम्पा जैसे गंभीर शब्दों के बहाने अपने राग का पोषण मिथ्या है।

देख रहा हूँ दिन-महीने ऋतु पर ऋतु गुजर गयीं और ये उन्मग्न होकर मुझे तरह-तरह की उलाहना दे रहे हैं। स्वभाव से अतिमृदु, ऋजु हैं, असहिष्णु हैं। स्नेह, भय और मोह से दीक्षित हुए हैं, इसीलिए भाव शून्य हैं।

किंचित् विकल्प के साथ देव पुनः अन्तश्चेतना में गहरे उतरते चले गए और सह दीक्षितों में से कितने ही धैर्य छोड़कर प्रभु की धीरता, निसंगता की चर्चा करने लगे। कितने ही स्थान छोड़ पुनः गृह जाने लगे, कितने ही स्वामी भक्ति से उनके निकट आ रहने लगे, कितने ही राजा भरत के डर से नहीं गए तो कितने ही राजर्षि ऋषभ के भय से नहीं गए। प्रार्थना और स्तुति करते-करते जब वे थक गए और प्रभु योग से चलायमान नहीं हुए तो वे लोग हाथों से फल और तालाब पर पानी पीने लगे। उन्हें पता नहीं कि यह निर्ग्रन्थ रूप कितना

अनमोल और पवित्र है। देव भी जिसकी रक्षा करते हैं, ऐसे इस रूप की रक्षा करना ही आत्मधर्म है। अनाचरण की वृत्ति देख उस उद्यान में निवासित वन देवताओं ने ध्वनित किया–अरे अनार्यो! यह दिगम्बर रूप जब तीर्थङ्करों, चक्रवर्ती, बलदेवों जैसी पुण्य आत्माओं द्वारा भी धारण करने योग्य है, तो तुम लोग इस भेष में कातर कार्य मत करो। इस रूप में अनादत्त मृत्तिका व जल का ग्रहण भी महापाप है। यदि शूरता नहीं तो पुरातन भेष को अपनाओ पर, इस असि मार्ग पर कष्ट से भय नहीं करो। तभी कितने ही लोग वल्कल की लंगोट पहन लिए, कितने ही भस्म लपेट जटाधारी हो गए, कितने ही एकदण्डी और त्रिदण्डी नाम से विख्यात हो गए। पाषण्डों में प्रमुख परिव्राजक भगवान् का नाती मरीच कुमार बना। योगशास्त्र और सांख्यशास्त्र की व्याख्या से भोले जनों को मोहित कर उनका गुरु बन गया। अनेक-अनेक मनचाहे भ्रामक उपदेशों से सबने अपना-अपना सम्प्रदाय बनाया और उदर पोषण में संलग्न हुए।

भगवान् ऋषभदेव इस अलौकिक मार्ग के वेत्ता थे। पूर्व संस्कारों से और सम्यग्ज्ञान से पुनीत आत्मा को विशुद्ध से विशुद्धतर बनाते हुए लगभग छह मास होने को हैं। विशुद्ध शिला पर कायोत्सर्ग से खड़े वह स्वर्ग और अपवर्ग की सीढ़ी से आभासित हो रहे हैं। न खेद, न चिन्ता, न आर्त, न वीर्य की पिघलन। पर शरीर अपने धर्म को दिखा रहा है। जठराग्नि प्रज्वलित है और स्वानुभूति के पीयूष से शमित भी। इस युग के आदि में भोजन-विधि को बताना मुख्य औचित्य-पूर्ण कार्य है। महाक्षुधा के शमन के लिए ही यह लोक चिन्तित रहता है और इसकी पूर्ति न होने पर महापाप में प्रवृत्त भी हो जाता है। यदि मैं इसी तरह कायोत्सर्ग में लीन रहा तो यह मार्ग एकान्त उत्सर्ग का रूप धारण कर लेगा और अपवाद के छल से अन्यथा प्रवर्तन होगा। अनेकान्त की समीचीन चर्या में तीर्थ प्रणेता का अटल और अवश्यंभावी नियम है कि तीर्थ गंगोत्री को वह अपने आचरण से चलाये। अनेक प्रकार के असंयम और उपकरणों का आश्रय लेकर स्वार्थसिद्धि करना अनुचित है। सभी तीर्थ प्रणेताओं के द्वारा विहित एषणा की समीचीन विधि जो कि विदेहक्षेत्र में भी एक समान है, कर्मभूमि के प्रारम्भ में प्रारम्भ करना अत्यावश्यक है। भोजन यदि विहित विधि से सम्यक् चारित्र के अनुष्ठान के लिए ग्रहण किया जाता है तो वह

परिग्रह नहीं। संयम की सिद्धि के लिए निर्दोष आहार ग्रहण करना साध्य के लिए साधन है। **कायक्लेश उतना ही हो जिससे मनःक्लेश न होने पाये क्योंकि मनः संक्लेश पापानुबन्ध का हेतु है।**

अतः निर्दोष आहार लेकर मन को विशुद्ध बनाना और तत्त्वचिन्तन कर इन्द्रिय को जीतना धर्म है। इन्द्रियजय से ही शम भाव है और शम भाव से मोक्ष। यही सोचकर उस सिद्धार्थ उद्यान में खड़े प्रभु ने आँखें खोलीं और अपनी प्रज्ञा आलोक को साथ लिए रवि के आलोक में गमन किया। प्रभु का गमन अयोध्या की ओर हुआ। पुरजन चिन्तित होने लगे, सभी लोग देखने आने लगे। यह क्यों वापस अयोध्या में आ रहे हैं? इनको क्या चाहिए। अरे! आओ-आओ देखो अपने स्वामी जिन्होंने अपने को धन दिया था। अरे! देखो वे ही महाराज ऋषभ अब नग्न हो कितने सौम्य लग रहे हैं, इनका तन तो देखो कनक-सा दैदीप्यमान है। अरे! पूछो ना इनको क्या चाहिए? महाराज कुछ ग्रहण करो। स्वामिन् रुको! रुको! हे देव! इस आलय में आओ, हे श्रमण! कुछ तो बोलो। हे पूज्य! यह सब कुछ आपका ही है, आपको क्या चाहिए, हे महापुरुष!

न हास्य है न विलास, मुख हर्षविषाद से रहित, जीवरक्षा से कदमों का परिवर्तन, मौन की गंभीरता, किंचित् इशारे के अभिप्राय से शून्य वह महाश्रमण घूमकर पुनः उद्यान में आ गए और पुनः देह से पार, अपरिचित को देखने जानने में लीन हो गए।

नवप्रभात हुआ, नहीं मालूम ये पग कहाँ रुकेंगे, ज्ञान है भविष्य को जानने का, शक्ति है भूमि के अधिकार की, पर अब अकिंचन को किसी भी ऋद्धि का प्रयोग नहीं करना है। थोड़ी दूर जाने पर लगा कि यह रामपुर है। चारों ओर कोलाहल मच गया। महाराज ऋषभ अपने नगर में आ रहे हैं। उनका अभिप्राय किसी को ज्ञात नहीं, छह महीने से उन्होंने न कुछ खाया न कुछ पिया। रोको-इनको-रोको! लाओ मिष्ठान्न लाओ, खीर दिखाओ, लाडू दिखाओ, दूध दिखाओ, पर ये चरण चलाचल हैं, क्या चाहते हैं कुछ समझ नहीं आता। कल अयोध्या में भ्रमण कर वापस आ गए थे। महाराज भरत ने भी रोका पर रुके नहीं, माँ की ममता अश्रुओं में बह रही थी पर इन चरणों को बाँध

न सकी। अब ये पुनः लौटते हुए दिखते हैं उद्यान की ओर.....।

नहीं मालूम यह कब तक चलेगा, कब मिलेगा विधिवत् आहार, तात्कालिक विकल्प से भी सामायिक निराबाध चल रही है। अनियत कालीन सामायिक की पूर्णता तो आत्मा के यथार्थ दर्शन से होगी। **देह का यह संयोग ही अशेष संयोग का मूल है।** इसी से दुःख की परम्परा अनाहत चलती है। विदेही का स्पर्शन कितना सुखद है और कितना स्वतन्त्र। स्वतन्त्र, स्व ही मुख्य है, स्व ही आनन्द है, स्व ही चित् है, स्व ही वह है, वह सो मैं हूँ, मैं ही, मैं .....चहुँ ओर मेरे ही रूप, मेरे ही खेल, सबमें मैं, स्व में मैं, पर में भी मैं.....सत्ता का विस्तार .....महासत्ता का निर्विकार दर्शन.....अनुभूति फैली है देह की पृथक् भावना में और मात्र जाननहारा-देखनहारा-लखनहारा-निराकारा-चिद्-आकारा-सारा।

बीत गए कितने ही दिन, जा चुका हूँ कहाँ-कहाँ? स्मृति की आवश्यकता नहीं, प्रतिपल जो निराकुल बन गया है। पर कल्याण का भाव आया किन्तु विधि का बन्धन कितना दृढ़तर है। छह महीने के अनवरत कायोत्सर्ग से भी उसका फन्दन नहीं टूटा। कितना दुर्लभ है सम्यक् विधि से विश्व का कल्याण। पर होगा ऐसे ही। यह मार्ग अवरुद्ध नहीं होगा, क्योंकि सुख की अभिलाषा में मात्र मैं ही नहीं यह लोक भी अभिलाषी है।

कितने ही महीने बीत गए, ये देव प्रतिदिन उद्यान से आते हैं, सर्व प्रयास करके हम लोग थक गए, स्वयं भरत और बाहुबली भी चिन्तित हैं। परमपिता के गूढ़ अभिप्राय को जब ये समर्थ राजपुत्र नहीं समझ सकते तो हम और आप क्या करें? धन, पैसा, धान्य, स्त्री, पुत्र, सुन्दर कुलीन कन्याएँ, सारा राज्य सब कुछ तो भेंट करना चाहा पर कुछ भी स्वीकृत की आहट नहीं, लगभग छह महीने होने को हैं.....। इन्द्र भी कहाँ सोया? देव समूह कहाँ गया? कोई बताने वाला नहीं, सब लोग भ्रमित से हैं मानो किसी कुदेव की छाया में सबका ज्ञान आच्छादित हो गया हो।

तभी कुरुजांगल देश के हस्तिनागपुर नगरी के राजा, कुरुवंश के शिरोमणि सोमप्रभ के छोटे भ्राता श्रेयांसकुमार को रात्रि के अन्तिम प्रहर में स्वप्न दर्शन हुआ। स्वप्न फल जानकर सोचा कि ऐसा अतिथि आयेगा जो

मेरु-सा उन्नत हो और समुद्र-सा गंभीर। कुछ देर बाद खबर आयी कि अति उन्नत, महावीर, धर्म के प्रवर्तक महा दिगम्बर महाराज ऋषभ के कदम आज हस्तिनागपुर की ओर पड़ रहे हैं। अनेक देश, नगर, ग्रामों में भ्रमण करते हुए आज स्वामी अपने नगर पधार रहे हैं। कुतूहल की दौड़ में सारा नगर आनन्दित हो गया। राजा सोमप्रभ और राजकुमार श्रेयांस, दोनों ही अन्तःपुर, सेनापति और मंत्रियों के साथ उठकर राजगृह से बाहर आये और प्रभु को प्रांगण में देख हर्षातिरेक से प्रभु के चरण कमलों को प्रणाम किया तदनन्तर प्रदक्षिणा दी। साक्षात् भगवान् की इस भक्ति में दोनों भ्राता रोमाञ्चित हो गए। सौधर्म और ऐशान इन्द्र की तरह दोनों ने प्रभु को गृह प्रवेश के लिए कहा। उच्चासन पर भक्ति पूर्वक बैठाया और जलादि समर्पित कर पाद-प्रक्षालन कर अपने पापों को प्रक्षालित किया। अतीव पूजा और भक्ति से सारा महल गुञ्जायमान हो गया। भगवान् की तपोपूत आभा में प्रवेश करते ही राजा श्रेयांस को जातिस्मरण हो आया और आठ भव पूर्व वज्रजंघ के साथ जो श्रीमती ने चारण युगल को आहारदान दिया था, वह पुण्य संस्कार आज फलीभूत हुआ। आहार की यथावत् विधि का स्मरणकर राजा श्रेयांस आहार देने को उद्यत हुए। एक तरफ स्वामी खड़े हैं और सामने हैं राजा श्रेयांस। राजा ने प्रभु के पाणिपात्र में शुद्धिपूर्वक इक्षु रस की अक्षयधारा को छोड़ दिया। तत्काल ही गगन से रत्नवृष्टि, पुष्पवृष्टि होने लगी, नगाड़ों की गम्भीर ध्वनि बजने लगी, मन्दमन्द शीतल सुगन्धित समीर बहने लगा और जय-जय.....धन्य धन्य.....धन्य यह पात्र, धन्य यह दान-धन्य है, यह दाता-जयवन्त हो, यह धर्म जो श्रावक और श्रमण के दो कूलों के बीच निर्बाध प्रवाहित हो रहा है। धन्य है यह धर्मरथ, जो आमने-सामने खड़े राजा और महाराजा मानो धर्म के दो पहिये ही हों और इक्षु की धार इस धर्म की अखण्ड धुरा हो। धन्य यह दान, जो अनुमोदना करने वालों को भी पुण्य देता है। आहार पश्चात् दोनों भ्राता प्रभु के पीछे-पीछे जाते हुए अपने को कृतकृत्य समझते हुए, गद्गद हो रहे, कभी चरणों को देखते तो कभी देह यष्टि को, मानो आज उन्हें सब कुछ मिल गया। चक्रवर्ती, इन्द्र को भी जिन्होंने लज्जित कर दिया ऐसे दोनों भ्राता बहुत दूर तक प्रभु को भेजकर रुक-रुककर-पुनः-पुनः प्रणाम कर वापस लौटे। लौटते हुए दोनों भाइयों को

सम्पूर्ण नगरी बधाई दे रही है कह रही है कि आज धर्मरथ का प्रवर्तन हुआ। आज यह मुक्तिमार्ग गतिमान हुआ। खड़े हुए पात्र और दाता ने आज बता दिया है कि धर्म दो प्रकार का है। धर्म के दोनों पहियों का यथास्थान महत्त्व है। इनके बीच की इक्षुधारा श्रावक और श्रमण के मध्य यथोचित दूरी बनाये हुए हैं। इस दानधारा के प्रवाह से ही विशुद्धि के स्रोत श्रावक में फूट पड़ते हैं। यह इक्षुधारा दोनों चक्रों को कसे हुए हैं। दोनों धर्म के बीच की दूरी यदि बाधित हुई तो धर्मरथ अग्रसर नहीं होगा। अकिंचन की मनः तुष्टि श्रावक को भूरि-भूरि आशीष देती जा रही है। न दाता को अभिमान है, न पात्र को दीनता, मौनपूर्वक सब कुछ चल रहा है और भावों की प्रसन्नता प्रकट हो गयी पञ्च आश्चर्य के रूप में। आज इस प्रक्रम को देखने वाले धन्य हो गए। समस्त आर्यावर्त में हवा की तरह राजा श्रेयांस के घर महाराज ऋषभ की आहारचर्या चर्चित हो गयी। भरत, शीघ्रातिशीघ्र हाथ जोड़े राजा श्रेयांस के घर आये और राजा श्रेयांस को बहुत-बहुत मांगलिक वन्दनीय वचनों से अलंकृत किया। महाराज ऋषभ यदि प्रथम 'तीर्थ-प्रणेता' हैं, तो आप भी प्रथम 'दान-तीर्थ' प्रणेता हैं।

आपका यह कुरुवंश धन्य है। आश्चर्य से राजा भरत ने अगम्य को जानने का समाचार पूछा, श्रेयांस ने सब कुछ यथावत् कहा। देवों ने राजा श्रेयांस की पूजा की और तब से वह तृतीया तिथि ज्येष्ठ मास की '**अक्षय तृतीया पर्व**' के रूप में प्रतिष्ठित हो गयी, जो आज भी प्रचलित है। स्वयं भरत ने प्रथम '**दान तीर्थ**' की वन्दना की। एक साल का उपवास पूर्ण करने वाले परमेश्वर को दान देने वाले हे कुरुराज! आज आपका यश दिग्-दिगन्त तक सदा के लिए अमिट हो गया। आपको छोड़कर इस सम्मान का भागीदार कोई नहीं बन सका। परमात्मा को अपने गृह में ठहराने वाले हे पुण्यतीर्थ! आप ही कुरु कुल के सूर्य हैं।

व्रत और दान से चलने वाला यह दया धर्म आपने गतिशील कर दिया। सकल जन, इन्द्र, खेचरों और देवेन्द्रों को भी संतोष देने वाले इस कृत्य का बखान असंभव है। यह कह चक्रेश्वर अयोध्या की ओर हर्षाश्रु से दिशा बनाते चल पड़े।

❑❑❑

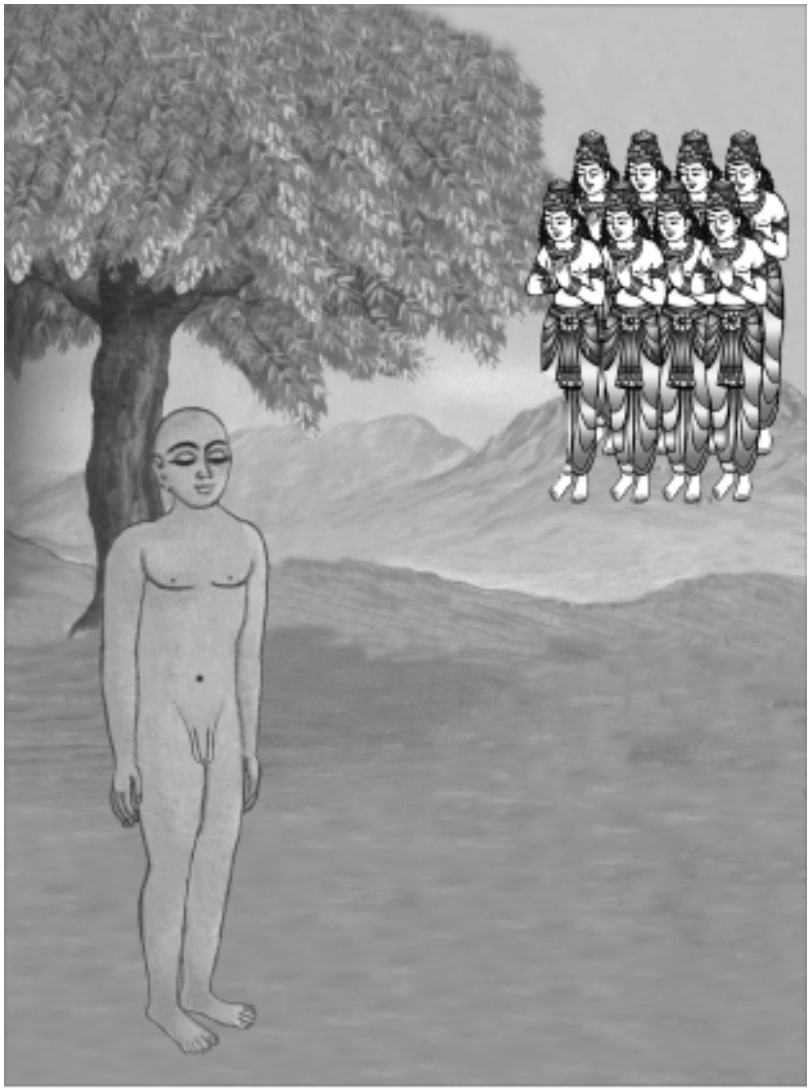

मुनि ऋषभदेव का ध्यान योग

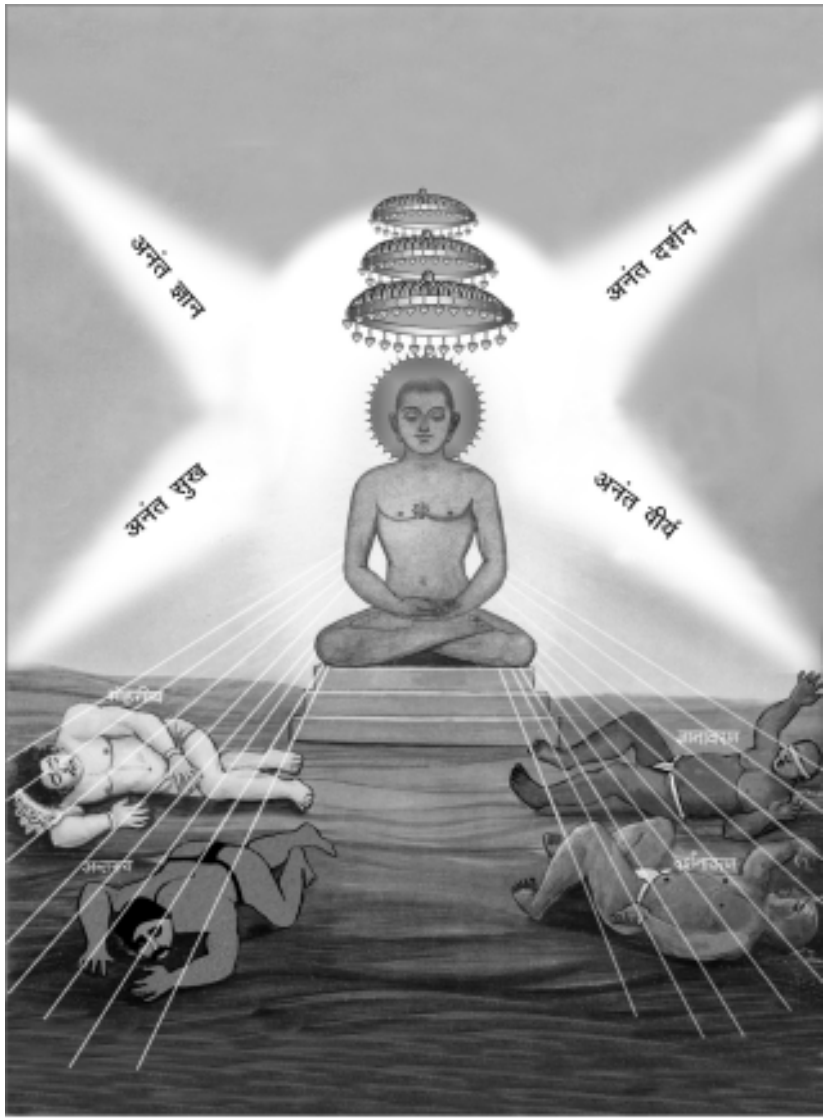

ऋषभदेव को केवलज्ञान प्राप्ति

14. कैवल्य अनुभूति

सहस्र वर्षों के इस प्रक्रम के बीत जाने पर ध्यान की एकाग्रता हुई। मात्र दो घड़ी के लिए इस अन्तर्मन को आत्मा में बिठाने के लिए स्वयंभू वृषभ को इतना प्रभूत काल लग गया। जिन्होंने पूर्व जीवन में दो बार उपशम श्रेणी पर आरोहण किया। चारित्र के यथाभाव का अनुभवन किया, तदुपरान्त भी वज्रवृषभ नाराच संहनन के धारी निर्विकल्प समाधि में लीन होते हैं पर, समाधि के फल से अछूते रह जाते हैं। क्या मनोबल की कमी है? नहीं मनोबल ऋद्धि जो प्राप्त है। क्या कायबल की कमी है ? नहीं कायबल ऋद्धि भी प्राप्त है। तो क्या वैराग्य की कमी है? नहीं सदा अखण्ड वर्धमान चारित्र है तो क्या ध्यान की सातत्यता नहीं? नहीं छह मास का सतत् कायोत्सर्ग निश्चल त्रय योग से किया है। पूर्व बद्ध कर्मों की यह शृंखला केवली गम्य है। सतत् पुरुषार्थ के उपरान्त भी यह कार्य कितना दुष्कर हो गया। पर निराश या उदास नहीं क्योंकि विश्वास है कि पुरुषार्थ सही दिशा में हो रहा है, पर काल जो कर्म में अपने भावों से बद्ध है, वह अनुलंघ्य है अभी, पर अदम्य नहीं। सन्धि प्राप्त हो रही है, जिसमें ध्यान के तीक्ष्ण बाणों से कर्म शक्ति टूट-टूटकर विगलित हो रही है। क्षपक श्रेणी पर आरोहण होना है, पर कषाय के काषायिक पन से उपयोग फिसल जाता है। जन्म-जन्म की किट्टिमा शैवाल ऐसी जमी है कि पैर रखने से पहले ही फिसल जाता है, आगे बढ़ने की बात कहाँ? पर प्रयास निरन्तर जारी है और प्रभु ने एक-एक को उस एकाग्रता से चुनना प्रारम्भ किया था वह स्वयं कर्म ही हार कर समर्पण करता जा रहा है, यह अनेकान्त से ही समझ में आती है। अप्रमत्तता अब बढ़ रही है, कितना ही समय बीत गया कि अप्रमत्त से उपयोग फिर प्रमत्त बन जाता था, ऊपर नहीं उठ पाता, पर विशुद्धि का साम्राज्य भी बढ़ता रहा और आज उस साम्राज्य से सारी हिम्मत लगाकर चढ़ाई कर दी। चढ़ते ही अपूर्व परिणाम, अपूर्व अद्भुत आनन्द, जो पहले कभी नहीं आया पर, यहाँ से मोह सेना की समस्त व्यवस्था समझ में आ गयी और-और अनन्तगुणी

विशुद्धि की शक्ति बढ़ी, तभी पा लिया वह बिन्दु कि अब जमाने की कोई भी ताकत हमारी इस अनन्त-अनन्त व्यापी विशुद्धि सेना को पीछे नहीं ला सकती और अब सहज गति बढ़ती जा रही है। चहुँ ओर खलबली मच गयी। दुर्गम पहाड़ियाँ, अगम्य रास्ते, सब कुछ सुलझे से नजर आने लगे। सर्वप्रथम राजा के अंगरक्षकों पर धावा बोला गया जो अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान कषाय के नाम से अभी तक ज्ञात थे, पर देखे नहीं थे तदुपरान्त काम की अभिलाषा पैदा करने वाले वेदत्रय को क्रम-क्रम से नष्ट किया पश्चात् नव नोकषाय को जो कषायों की हाँ में हाँ मिलाती रहती थी। अब कुछ भी दबाया नहीं जा रहा था अर्धमृतक कर नहीं छोड़ा। निःशेष-श्वास जब तक न मिट जाय तब तक यह सेना आगे नहीं बढ़ती। अत्यन्त क्रुद्ध हो सबसे प्रमुख और सबसे अग्रणीय चलने वाले क्रोध की संज्वलनता बहुत देर में पकड़ में आयी उसको पकड़ते ही मान, माया स्वयमेव हिम्मत हारकर नस्तोनाबूत हो गयीं। पश्चात् लोभ ने अपनी सेना भेजी और स्वयं गूढ़ हो बैठा रहा गहराई तक अन्तस्तल में, कि वह सेना भी परास्त हुई बारी-बारी से पर उस लोभ का सूक्ष्म परिणमन होने से विशुद्धि दूर-दूर तक चली गयी पर वह लोभ अभी पकड़ से बाहर रहा। सभी ने सोचा कि हम विजयी हुए, चारों ओर कर्म के इस महासमर में दया की ढाल पकड़े हुए महायोद्धा ज्ञान रूपी तीक्ष्ण हथियार बाँधे हुए, चारित्र रूपी ध्वजा फहराते हुए अतिशय आनन्दित हैं। तभी आत्मा की आवाज आयी अभी मत रुको इस दुर्गम दुर्लंघ्य पहाड़ी से पार वह लोभतन्त्र बैठा है, जो सुरक्षित है। इस कृष्टिकरण की क्रिया को जारी रखो और सूक्ष्मध्यान को करो। समस्त कर्मों में बलवान मोह का यह अन्तिम योद्धा है। जो अत्यन्त दुर्बल हो चुका है, पर इसकी श्वास चल रही है। अब दया नहीं करना, अन्यथा आप ही हार जाओगे। निर्दयता से चले चलो, बढ़े चलो और वह सूक्ष्म लालिमा को पकड़ लिया गया इसी के आश्रित तो केवलज्ञान और केवलदर्शन के महाशिखर बंदी हैं, कैद हैं। स्वयं बंदी नहीं यह सूक्ष्मलोभ, पर अपने अस्तित्व से शक्तिमान इसने बना रखा है ज्ञान, दर्शन और अन्तराय के दृढ़ कपाटों को और वह लोभ आत्मा पर कोई प्रभाव न डालता हुआ रंगभूमि से सदा के लिए चला गया। गुणों का कोष बढ़ता चला जा रहा है और आज मिला वह सर्व विशुद्ध चारित्र का महल

जिसमें वह शिवांगना मेरी प्रतीक्षा में बैठी है। यथाख्यात चारित्र के प्रासाद में प्रवेश करते ही देखा कि पीछे मोह की समस्त सत्ता प्रलयित हो गयी और तदनन्तर दृढ़ कपाटों पर खड़े विशुद्ध स्वामी को देख ज्ञान, दर्शन और शक्ति को आवरित करने वाले योद्धा क्षीणमोह के द्वार पर वृषभात्म को देख डर गए और शनैः शनैः समर्पित हो सदा के लिए उस द्वार को छोड़ दिया। पश्चात् निराबाध विशुद्धि के प्रासाद में प्रवेश होता चला गया और पा लिया अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य, अविनश्वर भोग, अक्षय उपभोग दे दिया स्व में आकर पूर्णतः पर का दान पर को। फाल्गुन मास के कृष्ण पक्ष की एकादशी का दिन था, जब यह अनन्त साम्राज्य हाथ आया और विश्व को क्या, उसकी भूत-भविष्यति परिणतियों को प्रत्यक्ष पाया हाथ में रखे सहस्र पहलूदार मनोहारी मणि की तरह। विश्व में खलवली मच गयी। ऊर्ध्वलोक का स्वामी इन्द्र, इन्द्राणी के साथ आलिंगित था, कि एकाएक सम्बन्ध टूट गया और क्षण में ज्ञात हुआ कि जिस वैरागी को हमने वैराग्य दिलाने की लीला रची थी वह विराग आत्मा स्वयं स्वाधीन पराग को पा गया और मैं अभी तक इस निःसार पराग में आप्लावित हो रहा हूँ। तभी चला शक्र अपनी अनेक अप्सराओं और वल्लभाओं को साथ लिए उस कैवल्यमूर्ति के दर्शन करने। सारा नभांगण देवों से व्याप्त हो जय-जयकार के निनादों से गुञ्जित हो गया और अगले ही क्षण देखा कि इस पृथ्वी पर मानो कोई स्वर्ग निर्मित हुआ है, जिसमें प्रतिप्राणी को आने की कोई रोक टोक नहीं। समस्त आत्माओं का एक मात्र आस्थान, सुख और शान्ति की एक मात्र भूमि, मोहाभिभूत अनेक आत्माओं को एक मात्र शरण्य की वह शरण स्थली, जिस समवसरण की महिमा का वर्णन स्वयं वाचस्पति करने में असमर्थ है। जिस समवसरण के सम्राट, स्वयंभू वृषभ के चरणों में असंख्य-असंख्य तिरीट-हार-हास्य मुख प्रतिबिम्बित हो रहे हैं। बारह योजन के विस्तार में वह विलास फैला है, पर पूर्ण तृप्त नहीं हो पा रहा। आज तीर्थकरत्व प्रकट हुआ, सम्यक् कल्याण की भावना आज फलीभूत हुई। एक योजन के श्रीमण्डप में असंख्य जीव निराबाध विराजित हैं। जाति बैर रखने वाले पशु, पक्षी और मनुष्य भी सब कुछ भूल शान्ति का अनन्य स्रोत सहज पा रहे हैं। बीचोबीच गंधकुटी पर विराजमान हैं चैतन्य वृषभ। आसन-सिंहासन से परे अपने में

आसीन है, फिर परकृत औपचारिक विनय की स्वीकरता कहाँ? कषाय सहित हैं, तब तक ही आसन दिया जाता है और स्वीकारा जाता है। इस निष्कषाय भावों की अभिव्यक्ति प्रभामण्डल में सहज हो रही है। देवों द्वारा पुष्पों की मुञ्चित वृष्टि ने बारह योजन तक के भू भाग को अपनी पराग में डुबों लिया। समीपस्थ अशोक वृक्ष ने अपने पत्र फूलों के अपार वैभव से इस लोक के शोक को अपने में समा लिया। तीन विशाल धवल छत्रों ने त्रिलोक की विजय पताका ही फहरा दी। प्रभु के निकट यक्ष खड़े हैं, जो चँवरों के ढुरोने से ऐसे आभासित हो रहे हैं, मानों क्षीरसागर का जल ही मुदित हो हिलोरें ले रहा है। पणव, तुणव, काहल, शंख और नगाड़े आदि वाद्यों के शब्द देवों की दुन्दुभि श्रुति से भगवान् के अनन्तकाल तक जय-जय-जय गान की घोषणा कर रहे हैं। भगवान् के निःस्पन्द ओष्ठ वाले मुख कमल से मिथ्यावादियों के मद को ताड़ित करते हुए मनुज भाषा और कुभाषा में एक साथ परिणत होती दिव्यध्वनि अतिशय बलवान है। सकलजन भाषाओं को एक साथ बोलना सम्भव नहीं इसीलिए गंभीर ध्वन्यात्मक नाद है जिससे प्रतिप्राणी अपने क्षयोपशम शक्ति के अनुसार सार तत्त्व को ग्रहण कर प्रसन्न होता है। जिस समवसरण के ध्यान से बड़े-बड़े योगीजन अपने भावों को विशुद्ध करते हैं उस समवसरण की महत्ता अनिवर्चनीय है। जिन प्रभु की स्तुति करते-करते शक्र भी तृप्त नहीं होता, उन प्रभु का यह अपार धर्म का विस्तार देख इन्द्र भी चकित है। तभी उधर भरत राजा को सुकृत के फल स्वरूप तीन समाचार एक साथ मिले। आयुध शाला के रक्षक ने चक्ररत्न प्रकट होने का समाचार दिया, कंचुकी ने पुत्र उत्पत्ति की खुशखबरी सुनायी तो राज्य के धर्माधिकारी ने कहा राजन्! आपके पिता अब पिता परमेश्वर बन गए। अक्षय केवलज्ञान से आलोकित उन्होंने मोक्षपुरुषार्थ का फल प्राप्त किया है। तभी भरत ने क्षण भर सोचा कि किस कार्य को पहले करूँ? तीन पुरुषार्थों के फल एक साथ सामने आये हैं, धन्य है यह गोपनीय दैव। यह चक्ररत्न तो मेरे पूर्वकृत पुण्य का अनिदान तपफल है और अर्थपुरुषार्थ को प्रेरित कर रहा है। यह पुत्र रत्न मेरे समीचीन काम पुरुषार्थ का फल है तो यह कैवल्यज्ञान मेरे धर्म पुरुषार्थ को फैलाने वाला है। धर्म का यह अनमोल फल अत्यन्त मांगलिक है। इसलिए प्रथम मैं परमपिता के दर्शन को चलता हूँ।

अन्य दो फल तो गृहस्थ जीवन सम्बन्धी हैं पर, कैवल्य की पूजा प्राक् करणीय है। **वो अन्धे होते हैं जो लौकिक कार्यों के लिए धर्म की उपेक्षा करते हैं। वो मूढ़ हैं जो सांसारिक सुख में धर्म को भूल जाते हैं।** यह चक्र और पुत्र कहाँ जाने वाले हैं, ये तो कई बार प्राप्त किए और कई बार छोड़ चुके हैं पर, साक्षात् अमूर्त आत्मा का मूर्त रूप देखना मानो यह जन्म को सफल बनाना है। क्षणिक जीवन में क्षायिक तत्त्व का दर्शन पारलौकिक है। चक्र तो जड़ है उसका दर्शन बाद में करूँगा, रहा पुत्र सो उसका मुख भी बाद में देखूँगा, पहले यह पुत्र उस पिता का मुख लखेगा जिसका मुख देखने को इन्द्र भी तरसता है। शायद यह निःस्पृहता ही महापुरुषों को सूतक-पातक के दोषों से बचाती है और धर्म कार्य के लिए निरन्तर प्रेरित करती है। अन्यथा पुत्र प्रसूति और पवित्र केवलज्ञान का पूजन एक साथ कैसे घटित होते? अनुज भ्रात हैं, अन्तःपुर की वनितायें हैं, अनेक राजागण हैं, पुरोहित हैं, धर्मपुरुष हैं और महाराजाधिराज भरत सेना के अग्रणी नायक बन चल पड़े प्रभु के दर्शन को; और दूर से देखा नीलम रत्न से परिवृत गगनखण्ड। सेना का शोर शान्त हो गया। मन के अन्तर्द्वन्द धीरे-धीरे शान्त हो रहे हैं, अपूर्व, अद्‌भुत, अनोखा दृश्य है .....

सवारी छोड़ दी, स्तब्ध आँखें सहज प्रणमन की मुद्रा में करांजुलि पे रखी गयीं, अहो! कितनी कमनीय यह संरचना है। चारों आयामों में परिमण्डल यह धूलिशाल प्रथम नीलाभ कोट। मानो नाभिकमल की कुण्डलियाँ ही वलयित होकर इकट्ठी हो गयी हैं। बीस हजार सीढ़ियों को क्षण भर में पैर रखते ही पार कर गया। अनायास ढाई कोस की ऊँचाई पर आकर भी महसूस हो रहा है कि, मैं प्राकृतिक भूमि पर ही खड़ा हूँ। सभी सेना, सभी देव, सकल पशु-पक्षी निराबाध बढ़े जा रहे हैं। चारों ओर द्वार हैं, चारों ओर से प्रवेश जारी है, पर सबका लक्ष्य एक है, उसी ओर गतिमान हैं, रास्ते सब एक हो गए। प्रभु के समत्व का यह सत्फल कि जड़ भी चेतन हो गए। रत्न यहाँ धूली बन गए हैं। इसलिए यह धूलीशाल कहलाता है। प्रवेश करते ही यह मानो अनेक विधियों में फूट गया। चारों दिशाओं में अन्तहीन आकाश को छूते हुए ये मानदण्ड, जो खड़े हैं विचित्रमणिमय जगती पर जहाँ प्रवेश के चार द्वार हैं, अन्दर चला तो एक नहीं, दो नहीं, तीन कोट पार किए और स्वर्णमय सीढ़ियों से पहुँच मार्ग

बना है, उन स्तम्भों के ऊपर जड़ित प्रतिमाओं का निकट से दर्शन, पूजन का सौभाग्य। इन तेजोमयी मूर्तियों के दूर से दर्शन ही बड़े-बड़े मानियों का मान खण्डित कर देते हैं और कुपथ की कुटिलतायें इस मानस्तंम्भ की दीवार की तरह सीधी कर देती हैं मन को। भगवान् के अनन्त चतुष्टय का ये जयगान कर रहे हैं। इन्हीं स्तंम्भों के चारों ओर ये विशुद्ध शुभ जल सहित सरोवर, जिनमें स्वतन्त्र सत्ता का भानकर ही फँसते हुए ये आन्दोलित रंग बिरंगे कमल पुष्पों की बहुलता। तदनन्तर निर्मल जल से भरी हुई परिखायें। फिर अनेक-अनेक पुष्पवाटिकायें जहाँ योगीजन बैठकर शुक्ल-ध्यान का अभ्यास करते हैं। तब आता है प्रथम कोट। थोड़ी दूर चलने पर दिख रहीं हैं दोनों ओर दो-दो नाट्य शालायें, प्रत्येक तीन-तीन खण्ड की स्फटिक मणि से निर्मित हैं, जिनमें देवांगनायें, विचित्र आभूषणों और भंगिमाओं से लसित होकर नृत्य कर रही हैं और इन स्फटिक भित्तियों में ये ऐसी विलस रही हैं, मानो चित्र ही चिन्मय होकर नाच रहे हैं। उनके आगे फिर वीथियाँ बन गयीं, जिनमें रखे धूप घट मेघ के समान छाये हुए सुगन्धी से परिसर को जीवन्त उपदेश दे रहे हैं। उन गलियों के निकट की चार-चार गलियाँ वनों की, अशोक, सप्तपर्ण, चम्पक और आम्र वृक्षों के वन, फल-फूलों से लदे हैं। तदनन्तर चार गोपुर द्वारों से शोभित चार वन वेदिकायें, रत्नमय तोरणों से सुशोभित हैं। उनके आगे ही स्वर्णमय खम्भे हैं, जिनके अग्रभाग पर ध्वजाओं की पक्तियाँ हिलोरें ले रही हैं। तब प्रारम्भ हुआ द्वितीय अद्वितीय अनुपम रजतमय कोट। प्रथम कोट की तरह यह भी विशाल और शोभा में समान है पर, यहाँ धूप घटों के बाद गलियों के अन्तरालों में कल्पवृक्षों के वन हैं, मध्य में सिद्धार्थ वृक्ष हैं, जो सिद्ध भगवान् की प्रतिमाओं से अधिष्ठित हैं। तदनन्तर महावीथियों के मध्यभाग में नौ-नौ स्तूप खड़े हैं, जो सुमेरु के समान पूजार्ह हैं। जिन पर स्थित जिनेन्द्र प्रतिमाओं की पूजा, स्तुति और प्रदक्षिणा भव्यजीव अनवरत कर रहे हैं। इन्हीं स्तूपों और मकानों की कतारों से घिरी आकाश सम निर्मित स्फटिक मणि का बना तृतीय कोट है, जिसमें प्रवेश करते ही देखा कि तीनलोक के जीव यहाँ एकत्रित हैं। बारहसभाओं से घिरी गन्धकुटी इस समवसरण वलयपुष्प की कर्णिका-सी लग रही है, जिसके भीतर द्वारपालों ने प्रवेश कराया, भूल गया हूँ कि मैं कौन हूँ, कहाँ आ

गया हूँ। प्रथम पीठिका पर पहुँच कर प्रदक्षिणा देते हुए धर्मचक्रों की पूजा की। तदनन्तर द्वितीय पीठ पर स्थित ध्वजाओं की पूजा की। पश्चात् गन्धकुटी के बीच सिंहासन के कुछ ऊपर, देख रहा हूँ वह नग्न तन, राजा वृषभ और महाराज वृषभ से भी कुछ अद्भुत हो गया, यह रंग रूप। कोटि कोटि-सूर्य, चन्द्रों की आभा से अधिक दीप्तमान यह भासुर देह सारे परिसर को कांचनमय कर रही है।

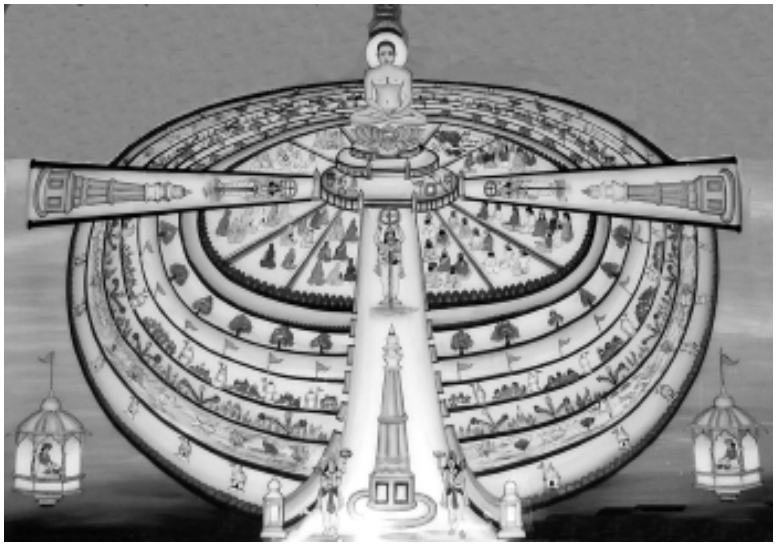

भगवान् ऋषभदेव का समवसरण

अनायास घुटने जमीं पर टिक गए, आँखों से हर्षाश्रु बह निकले और स्तुति के स्वरों में प्रभु की गौरवता का तनिक वर्णन कर वह अपने स्थान पर बैठ गए, तभी सहज प्रभु की दिव्यध्वनि अतिशय गंभीर, तत्त्व का विस्फोटन करती हुई प्रतिवादियों के मान खण्डन की धारा रूप अनेक भाषा-उपभाषाओं में परिणत होती हुई अविरल निःस्पन्द ओष्ठ से प्रस्फुटित हुई।

आज प्रथम बार इस भूतल को धर्मामृत से सिंचित किया गया। मुरझाई हुई सुप्त चेतनायें जागृत होने लगी। यह धर्मवृष्टि भव्य जीवों के पुण्य का सुफल है या तीर्थकरत्व का या विश्वकल्याण की भावना से उद्भूत भगवान् का प्रयास है। कहना कठिन है क्योंकि, निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का यह

खेल अनोखा है। उपादान अपनी निजी शक्ति है और निमित्त शक्ति को जागृत करने का एक माध्यम। कार्य तो उपादान में होता है, उपादान ही करता है पर निमित्त की अनिवार्यता के साथ। निमित्त की समीचीन महिमा तो वह उपादान ही समझता है जो वास्तव में आसन्नभव्य है। अपनी शक्ति को स्वयं स्पर्शित करता है, किन्तु निमित्त को देखकर भाव विभोर हो जाता है, तभी तो वह अहंकृति के प्रस्तरों को चूर्ण-चूर्ण कर आत्मा में मृदिम लोच उत्पन्न कर अहं.....सोऽहं..... की कृति आकृति को निर्विकार अनुभव करता है। अन्यथा अपने को सिद्धस्वरूप समझकर अहंकार में अन्धे हो अहित कर जाता है। कृतज्ञता के स्वर उसी मुख से फूटते हैं, जो अपने को संसार के तीर पे खड़ा देखता है। यह विनय के भाव, कृतज्ञता के गुण उपादान को कमजोर नहीं बलजोर बनाते हैं। निश्चयनय के द्रष्टा का व्यवहार इतना कोमल होता है कि मित्र तो दूर, शत्रु को भी अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। बारह सभा में कितने ही तद्भव मोक्षगामी जीव बैठे हैं, कितनों ने इस ध्वनि से अपनी कुण्डली को जागृत किया, कितने ही इस नाद में मिथ्यात्व की शाश्वत सत्ता को मिटा कर उसके टुकड़े-टुकड़े कर गए। कितने ही क्षायिक दृष्टि को उपलब्ध हुए, कितने ही इस भावना से ओत-प्रोत हुए कि हम भी आगामी समय में भव्य जीवों को सत्पथ बतायें। कितने ही उस आभा में अपने भवों को देख सावधान हुए, कितने ही श्रावकधर्म को सुन उसको आचरित करने का संकल्प लिए। कितने ही शक्ति-अनुसार नियम-संयम में स्वतः बंध गए। मनुष्य तो दूर रहे, पशु-पक्षी भी इस उपलब्धि से पीछे नहीं रहे। संयमासंयम को चञ्चल मर्कट और कुक्कुट (मुर्गा) भी प्राप्त किए। सम्यग्दर्शन से अछूता तो कोई नहीं बचा क्योंकि सभी संज्ञी थे, समनस्क थे, असंज्ञी तो अभव्यों के समान उस परिसर में नहीं पहुँच पाते। मिथ्या स्वभाव वहाँ पहुँचते-पहुँचते सीधा हो जाता है। निमित्त की इस अनुपम देन से सकल निकट भव्य एक टक प्रभु को देखते हुए आनन्दित हैं, उपशान्त हैं और सोच रहे हैं कि इस पवित्र आत्मा का अपने ऊपर यह उपकार क्षायिक है। नहीं कहा जा सकता कि, किसी एक व्यक्ति के निमित्त से यह धर्मदेशना हुई क्योंकि यह तो बद्ध तीर्थकृत कर्म के उदय का फल है और तीर्थकृत कर्म का बंध किसी एक जीव के कल्याण की भावना से हो; यह

असम्भव है। हम लोग अपने-अपने कर्म के क्षयोपशम के अनुसार तत्त्व, द्रव्य, अस्तिकाय, जीव-अजीव का स्वरूप और लोक की अनादि अनिधनता से परिचित हुए किन्तु देवाधिदेव के कहे गए लोकोत्तर और अनेक भावों को कैसे बांधा जाय?

तभी पुरिमताल नगर के राजा, जो कि भरत के अनुज भ्रात हैं, पितानुरूप नाम वृषभसेन है, धीर हैं, शूर-वीर हैं, प्रज्ञा, पाण्डित्य जन्मतः प्राप्त है, दिव्य देशना के रहस्य को जानने का अटल भाव लिए सभा में विराजमान थे, सहसा उठे और प्रभु के समक्ष आ, स्वयं पितामय के जातरूप को धारण कर सम्यग्ज्ञान के साथ सामायिक चारित्र को प्राप्त हुए। केश का लुञ्चन कर अकिंचन हो बैठे। अप्रमत्तता को अनुभूत कर स्वरस में लीन हैं कि प्रज्ञा का अनुपम अतिशय प्रकट हुआ। बुद्धि पर आवरित पटल हट गए और देशना के गहन अर्थों को समझने और समझाने की शक्ति प्राप्त हुई। श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान स्वयं पूर्णता के साथ अवतरित होते गए। कितनी ही ऋद्धियाँ स्वयमेव प्रस्तुत हो गयी। धर्म की अभेद्य धारा को स्वयं अवधारित किया। तभी सारी सभा में एक साथ, एक लय में उद्घोष हुआ-

आद्य तीर्थङ्कर के आद्य शिष्य वृषभसेन की जय हो।

अवसर्पिणी के प्रथम उपदेष्टा वृषभसेन की जय हो।

शब्द श्रुत के आदि रचयिता वृषभसेन जयवन्त हो।

ऋद्धि प्राप्त आर्य श्रेष्ठ गणधर प्रमुख अमर रहें।

त्रिकालेश्वर की दिव्यशक्ति को आत्मसात् करने वाले प्रथम गणधर अमर रहें।

छद्मस्थता की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि प्राप्त वृषभसेन हमें दिव्यज्ञान दें।

गणधरत्व की उच्च गोत्रीय प्रकृति का फल भूतल पर अमिट रहे।

गणधरों से प्रणम्य वृषभसेन सदा जीवन्त रहें।

हे आर्य श्रेष्ठ! हे निर्ग्रन्थ श्रमण! हे कलिकाल के ज्ञान सूर्य! आपका निर्ग्रन्थपना बहिरंग और अन्तरंग से समीचीन है; सम्यग्ज्ञान द्वारा गृहीत आपका चारित्र अभिवन्द्य है। आदि तीर्थङ्कर के समक्ष आदि शिष्य बनने का आपका

सौभाग्य प्रबल है। इस कर्मभूमि के आप प्रथम बोधित बुद्ध हैं। आत्मधर्म की पवित्र वाहिनी में डुबकी लगाने वाले आप आदि पुरुष हैं और वृषभदेव के बाद वृषभसेन ही द्वितीय किन्तु अद्वितीय श्रमण हों; आपके पूर्व हजारों दीक्षित राजा श्रमणाभास थे। आपके समीचीन पुरुषार्थ की अनुमोदना ये असंख्य देव जय-जयकारों से कर रहे हैं।

तत्काल ही कुरुवंशियों में श्रेष्ठ प्रभु को प्रथम आहार कराने वाले, दानतीर्थ के उन्नायक भ्रात सोमप्रभ और अनुज श्रेयांस के भी अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान के आवरण एक साथ विगलित हुए। सप्त ऋद्धियों की एक साथ उद्भूति से अन्तस् उज्ज्वल हो गया। गणधरत्व की सर्वोच्च उपाधि से आत्मायें अलंकृत हो गयीं। जो किसी को अनुशासित नहीं करना चाहते उनके सम्मुख स्वयमेव भव्य पुण्डरीक अनुशासित हैं। संयम, मर्यादा, विनय, भक्ति आपोआप सीख गए। आत्म अनुशास्ता की धर्मसभा संयम सभा में बदलती जा रही है। चिरकाल से प्रतीक्षित आत्म-मयूर से दिव्य घन गर्जना को सुन संयमी जीव संयमित नृत्य कर रहे हैं। आत्म आनन्द की अखण्ड अनुभूति के लिए प्यासे पपीहा व्याकुल से आज निराकुल हो गए हैं।

एक-एक करके हजारों राजा स्व संवित्ति के निराकार आकार में सन्निहित हो गए। शुद्धत्व के दिव्य प्रकाश में समाहित हो जाने का एक मात्र संकल्प लिए कई गणधर णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, कहकर तपोपूत हो गए। भरत की भगिनी ब्राह्मी और सुन्दरी भी वैराग्य की अभिभावना में आप्लावित हो गयीं। प्रथम गणिनी के सौभाग्य को प्राप्त कर नारी जगत् को अलौकिक प्रेरणा दी। उन्हें देखकर बन्धन की अस्वीकारता कर अनेक राजकन्याएँ अखण्ड समरसी स्वचेतन पुरुष में अनुरक्त हो दीक्षित हुईं। णमो लोएसव्वसाहूणं कहकर श्रुतकीर्ति आदि श्रावकों ने व्रत ग्रहण किए। प्रियव्रता नाम की स्त्री श्राविकोत्तम की उपाधि से पुनीत हुई। जो प्रभु के साथ हजारों राजा दीक्षित हुए वे सब आज सम्यक् बोध को प्राप्त हुए।

सम्यक्चारित्र की सौम्य रश्मियों से आज वे असली हीरे से चमक रहे हैं। सभा में विराजित हजारों मुनि भगवत् मूर्ति के अनन्य रूप से प्रतिभासित हैं। विश्वप्रभु की अन्तश्चेतना से साक्षात्कार कर रहे आज सभी भगवान् के सारांश

बन गए। प्रत्युत कुमार मरीचि चरम तीर्थङ्करत्व का अभिमान लिए अपनी स्वच्छंद आम्नाय को पुष्ट कर रहा है। पितामह के समक्ष अपने मिथ्या अभिमान से लोगों को भ्रमित करता हुआ उसने यह सूचना दी कि, हाँ यह हुण्डावसर्पिणी काल है। साक्षात् तीर्थङ्कर के रहते हुए अपने आपको गुरु कहलाने का दुस्साहस उसने किया और मुग्ध प्रजा ने उसका अनुसरण भी किया। मोह कर्म की यह विडम्बना टालने योग्य नहीं। मात्र अवसर्पिणीकाल का यह दोष नहीं किन्तु हुण्डावसर्पिणी की यह देन थी जिसकी आदि मरीचि ने मिथ्या आचरण से सूचित की। असंख्यात उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालों के बीत जाने पर यह हुण्डावसर्पिणी काल आता है, जिसमें लोगों को भ्रमित करने वाले पाखण्डी, कुलिंगी और महेश्वर अवतार लेते हैं। जहाँ भवितव्यता के उत्कृष्ट उपमान दिखायी दे रहे थे, वहीं निकृष्ट अवधारणायें भी प्रचलित होने लगी। अनेक दीक्षितों में भरत के भ्रात अनन्तवीर्य भी थे, जिन्होंने इस अवसर्पिणी में सर्वप्रथम शिवांगना का वरण किया। विषम परिस्थितियों में भी समता के उत्कट भावों को लिए प्रथम मोक्ष जाने वाले सिद्ध अनन्तवीर्य को इन्द्र, नरेन्द्र, राजेन्द्र और मुनीन्द्रों ने वंदन पूजन कर अपना मार्ग प्रशस्त किया।

यहाँ निबिड़तम सुख का भण्डार है, अबाधित सुख यहाँ अजस्र बह रहा है, भूख-प्यास की योजनों तक बाधा नहीं। हर सम्बन्ध यहाँ अपने वास्तविक रूप में प्रकट है। समस्त ऐन्द्रिय सुख की लीलायें इस परिसर में तिरोहित हैं। प्रत्यक्ष कैवल्य आलोक में अणु-अणु की स्वतन्त्र परिणमना झलक रही है। स्वयं क्षायिक सम्यक् द्रष्टा हैं, प्रथम राजाधिराज हैं, याद आ गया कि चक्ररत्न की पूजा करनी है और अपने वीर्यांश का अवलोकन, यह सब होते हुए भी भरत महाराज वापस लौट रहे हैं, इस छोर से उस छोर की ओर। अलक्ष्य मोह के यह सूत्र स्वयं उन्हें दिख रहे हैं। बाहुबली युवराज समेत अन्य अनेक भ्रात जनों और सेना के साथ राज्यशासन का आनन्द लेने चले गए। नीति निपुण प्रथम चक्री देवप्रिय महाराज भरत भी! .....

❑❑❑

अनन्तवीर्य का मोक्ष गमन

15. स्वयंबुद्ध-स्वयंसिद्ध

इन्द्र ने प्रभु की बार-बार पुण्य स्तुति की और प्रभु से कहा जगत् के कण-कण में बैठे भगवान् को जगाने का। महज संयोग कि इन्द्र का कहना और प्रभु का चलना हुआ। कण-कण में एक नव चेतना का संचार प्रभु के गमनमात्र से हो गया। कौन चल रहा है? कौन चला रहा है? क्यों चला जा रहा है? ये प्रश्न उत्तर को साथ लिए हैं। मौन विहार, मूक प्रकृति और विश्व का कल्याण आपो आप। राही ही राह बन गया। राह राही की बाट जोह रही है। महामही स्वामी वृषभ को स्वयमेव स्वर्ण कमलों की आँख बना कर निहार रही है। एक अपूर्व प्रेम, अद्‌भुत वात्सल्य है, प्रभु के दिव्यदर्शन में। जहाँ-जहाँ से प्रभु का विहार हुआ आक्रान्त चित्तों में शान्ति के पटल उघड़ते चले गए। मौन रह कर ही महासत्ता का परिचय दे रहे हैं। मैं मात्र मैं हूँ, तुम भी मेरे हो, मैं भी तुम्हारा हूँ, तुम तुम्हीं हो, तुम्हें तुम्हारी अनुभूत सदा रहेगी, मैं अब प्रकृति बन गया हूँ, स्वभाव हो गया हूँ, सब कुछ स्वभाव में ही शोभित होता है। **चराचर जगत् से प्रेम करो, राग नहीं, द्वेष नहीं। प्रेम पवित्र अनुभूति है, प्रेम परसत्ता की स्वयत्ता का अनुभवन है। प्रेम स्व-अधीन है, प्रेम सत्ता की स्वीकारता है, प्रेम करने से वस्तु की वास्तविक अनुभूति होती है।** यही स्वभाव है, यही धर्म है। जो मेरा भाव मेरे प्रति, वही भाव हो निखिल के प्रति, यही धर्म है। किसी को उसके स्वतन्त्र परिणमन से बाधित मत करो। राग बाधा पहुँचाता है, दूसरे को अपनी ओर आकृष्ट करता है, पर को अधिकृत कर पराधीन करना चाहता है इसलिए विकार है, अधर्म है। परसत्ता पर अहं के धब्बे लगाना महा अपराध है। इस अपराध की परम्परता ही आतंक है। उस अपराधी का वह विचार और उसका बखान ही पर को तंग करता है और जब यह तंगी चारों ओर से घिर जाती है तो काम, मोह, लोभ, मात्सर्य की दमघुटन प्रदूषण को जन्म देती है और यह आ-परि समन्तात्-तंग-आ-तंग ही आतंक

है, जो कष्टप्रद है स्व और पर के लिए। इसी से पैदा होता है द्वेष; जो असमर्थ को और असमर्थ बनाता जाता है। मन की दुर्बलता ही इन विकारों की सतत् जननी है। **प्रेम मात्र ज्ञाता-द्रष्टा बनाता है। प्रेम की दृष्टि में सब कुछ अच्छा लगता है, किन्तु अपने अधीन नहीं करना चाहता पर परिणमन को। विश्व में आत्मज्ञानी ही सच्चा प्रेमी है। विश्व में उस प्रेमी को सब जगह अच्छाई और प्रतिद्रव्य में गुणों की ही गन्ध आती है।** यहाँ गुण, वहाँ गुण, स्व में वही गन्ध, पर में वही गन्ध; फिर किससे राग करूँ, किससे द्वेष करूँ, स्व की गन्ध में स्नपित होता हुआ वह स्व में विलीन हो जाता है, तब उसका ज्ञान स्वच्छ बनता है, तब उसमें प्रतिभासित होता है, प्रत्येक द्रव्य, उसकी सत् समाचीनता के साथ और तब उसका वचन मनःपाप को धोने योग्य होता है। इसलिए हे विश्व के प्राणियो! अपनी कलुषता को धोओ, अपनी आत्मा में विकृति के भाव अब मत जमाओ, स्वयं से प्रेम करो, स्वयं का मान करो, तुम अपने में पूर्ण हो, तुम एक महा प्रकाश पुञ्ज हो, तुम आपे में आओ, तुम स्वयं में खो जाओ, तुम्हारा यह पुरुषार्थ एक दिन मुझसे मिलाप करा देगा, अन्यथा तुम मुझे देखकर भी नहीं देख रहे हो। जो दिख रहा है वह मैं नहीं हूँ, जो देख रहा है वह दिखता नहीं, क्योंकि देखने दिखाने का यह भाव मोह का विलास है। मोह एक आवरण है, पर्दा है, जिसमें सम्यक् सुख की अवभासना नहीं, जिसमें सम्पूर्ण का ज्ञान नहीं .....।

इतने कितने ही मौन प्रवचन करते हुए कितने ही आसन्न भव्यों को स्वकीय सत्ता का भान स्वतः होता गया। कितने ही बार वे चरण कितनी ही जगह रुके। बैठे तो, प्रभु ने मूसलाधार वर्षा की तरह दिव्यदेशना से इस आर्यावर्त की मृत्तिका को कल्पकाल तक के लिए जीवित कर दिया। विश्व के कल्याण की विक्षोभकारी भावना का प्रतिफल था, जिसने विश्व को क्षुब्ध किया, धरातल पर धर्म का बीज बोया।

चौरासी-गणधरों सहित चतुर्विध संघ को लिए यह विहार अनवरत चला। एक हजार वर्ष और चौदह दिवस मात्र शेष थे, एक लाख पूर्व में; इतने प्रभूत काल तक धर्मामृत की वृष्टि होती रही। परन्तु काल का अन्तःप्रवास अलंघ्य है। परकल्याण की भावना एक सीमा तक ही प्रतिफलित होती है। स्व

कार्य को भूले बिना वह करना विरले योगी ही जानते हैं। सहसा प्रभु की देशना अब रुक गयी। चैतन्य प्राण मचल रहे हैं, इस आयुप्राण की जड़ता के बन्धन को तोड़ने के लिए। किंचित् भी पर-लगाव इन आत्म प्रदेशों पर असह्य हो गया। आयु की कणिका उतनी ही शेष जितने चौदह दिन के कालाणु। भरत, अर्ककीर्ति, जयकुमार, यशस्वती, सुनन्दा आदि कितने ही लोगों ने शुभ स्वप्न देखे। उन सबका प्रतिफलन है, मात्र भगवान् की देह का इन चक्षुः से न दिखना। कैलाश की शुभ्रभंगिमा में मेला लगा है। चक्रवर्ती भी, इन्द्र के साथ पूजा में सम्मिलित हैं, देखना चाहते हैं इन चर्म चक्षुओं से अगम्य गमन। आज माघ कृष्णा की चतुर्दशी है, अभिजित् नक्षत्र चन्द्र के साथ है। सूर्योदय का शुभ मुहूर्त है और प्रभु विराजित हैं, पूर्व दिशा को मुख किए पर्यंक आसन में। चौदह दिन से चल रहा है, इन योगों के प्रचलन से आत्म प्रदेशों को रोकने की प्रक्रिया का अजस्र क्रम। मन, वचन, श्वासोच्छ्वास और कायकृत योगों का निरोध हुआ कि, ध्यान सूक्ष्मक्रिया के साथ अप्रतिपाती बन गया। जिस ध्यान से पुनः लौटना नहीं, ऐसा यही तृतीय अप्रतिपाती ध्यान है, जो सयोग कैवल्यता के अन्तिम क्षणों में होता है। पश्चात् इस संसृति में पार्थिव देह का दर्शन मात्र पञ्च लघु अक्षरों के उच्चारण काल तक ही होता है, जो योगरहित अवस्था है। समस्त क्रियाओं से निवृत्त होकर चतुर्थ ध्यान नाम पाती है, आत्मा की वह अन्तिम परिणति सकल अघातिया कर्मों का नाश इस ऊष्मा से ही होता है। यहाँ ही यथाख्यात चारित्र परिपूर्ण यथाख्यात होता है। औदारिक, तैजस और कार्मण शरीर का नाश इस चारित्र से ही होता है और एक क्षण में सिद्धालय में विराजमान हो गयी वह चेतना, उन अन्तिम लोक के प्रदेशों में जहाँ से ऊपर गमन सम्भव नहीं। सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन की एकमेकता, अपने ही अगुरुलघु गुण से अनन्तानन्त अर्थपर्यायों का प्रतिपल उठना और विलीन होना, जहाँ सब कोई अबाधित हैं एक-दूसरे से, अपने-अपने में जो लीन हैं। यह अव्याबाध गुण, यह सूक्ष्मत्व आज प्रत्यक्ष हुआ। ज्ञान चेतना की मात्र अनुभूति आज प्रकट हुई। आज कृतकृत्य हुई भगवान् वृषभ की आत्मा। महा परिनिर्वाण की पूजा चल रही है। भरत महाराज किंचित् खेद खिन्न हैं, किन्तु श्री गणधरदेव के प्रतिबोधन से आत्मशक्ति पा रहे हैं। लोग महाबल से पूर्व जयवर्मा के भव से

लगाकर एक साथ श्री गणधर के मुख से प्रभु का चरित्र श्रवण कर कृतार्थ हो रहे हैं और युगद्रष्टा के चरित्र को इस अढ़ाईद्वीप में दिखाकर, इतने ही प्रमाण-परिमित सिद्धशिला पे विराजित प्रभु को ज्ञान चक्षु से अवलोकित कर रहे हैं, उनके साथ बीते प्रतिपल का अनुस्मरण कर विभोर हो रहे हैं।

आदिम तीर्थङ्कर आदिनाथ जयवन्त हों!
स्वयमेव अनुशासित प्रशस्य शास्ता जयवन्त हों।
शम-दम-दया के निलय वृषभ ज्येष्ठ प्रजा की रक्षा करें।
अनवद्य-निर्ग्रन्थ श्रमण, श्रमण-शिखामणि रहें।
परीषहजेता मर्यादित नेता कलिकाल में भी अमर रहें।
इन्द्र, देवेन्द्र, महेन्द्र, अहमेन्द्र, नागेन्द्र, नरेन्द्र, वंदित चरण-
आमुक्ति मम हृदय पटल पर अंकित रहें।
सिद्धबुद्ध मुक्त निरंजन परमात्मा की चिज्ज्योति सदा प्रकाशित रहे।
श्रुति, स्मृति, पुराणों, काव्यों, उपन्यासों, वेदों, ऋचाओं और
सकल अनुयोगों में भगवान् वृषभ् की कलायें अमिट रहें।
इस युग के महामानव, युगद्रष्टा सदा सबके प्रणम्य हों।
राजा धार्मिक हो, प्रजा सात्त्विक हो, विद्वान् विनीत हो और साधक अकाम
ऐसी मम भावना चिरकाल रहे अविराम॥

वर्षायोग 2002 ई. श्री सिद्धोदय सिद्धक्षेत्र नेमावर (देवास) में भगवान् आदिनाथ का यह संक्षिप्त जीवन चरित्र स्वपर हितार्थ पूर्ण हुआ।

इत्यलम्

❑❑❑

निर्वाण कल्याणक मनाते हुए देवगण